

स्वामी विवेकानन्द का वेदान्त-एक विवेचना

स्वामी जी का कथन था कि वेदान्त का निरपेक्ष सिद्धान्तों पर जोर देने के साथ-साथ किसी अन्य विचार-धारा से विरोध नहीं है। भारत के सभी दार्शनिक सम्प्रदाय वेदान्त के अन्तर्गत आते हैं। वेद हिन्दुओं के आदि धर्म ग्रन्थ हैं। वेदान्त को 'श्रुति' भी कहा जाता है। श्रुति के अन्तर्गत समस्त वैदिक साहित्य आ जाता है। व्यावहारिक रूप में वेदान्त ही हिन्दुओं का धर्म ग्रन्थ है। सभी आस्तिक दर्शन इसी को अपना आधार मानते हैं। वेदान्त ईश्वर को, वेदों के श्रुत रूप को तथा सृष्टि चक्र को मान्यता देता है। समस्त अंधविश्वासों को भगा देने के लिये हमें तर्क-बुद्धि की आवश्यकता होती है; और अन्त में जो शेष रहता है, वही वेदान्त है। वेदान्त वह विशाल सागर है, जिसके वक्ष पर युद्ध-पोत और साधारण बेड़ा दोनों पास-पास रह सकते हैं। वेदान्त में यथार्थ योगी, मूर्ति पूजक, नास्तिक इन सभी के लिये पास-पास रहने को स्थान है। इतना ही नहीं, वेदान्त-सागर में हिन्दू, मुस्लमान, ईसाई या पारसी सभी एक हैं-सभी उस सर्वशक्तिमान परमात्मा की सन्तान हैं।

वेदान्त वेद शब्द से बना है, और वेद का अर्थ है ज्ञान। समस्त ज्ञान वेद है और ईश्वर की भाँति अनन्त है। कोई व्यक्ति ज्ञान की सृष्टि कभी नहीं करता। क्या कभी तुमने ज्ञान का सृजन होते देखा है? ज्ञान का अन्वेषण मात्र होता है-आवृत्त का अनावरण होता है। ज्ञान स्वयं ईश्वर है। अतीत, वर्तमान, अनागत इन तीनों का ज्ञान हम सब में विद्यमान है। हम उसका अनुसंधान मात्र करते हैं और कुछ नहीं। वेदान्त सर्वत्र है तुम्हें केवल उससे अवगत होना है। ये निरर्थक विश्वासपुंज व अंधविश्वास समूह ही हमारी प्रगति में बाधक हैं। अगर वेदान्त यही चेतनाशील ज्ञान है कि सभी एक आत्मा हैं, चारों ओर फैल जाय तो सारी मानवता आध्यात्मिक हो जायेगी। परन्तु क्या यह संभव है? यद्यपि वेदान्त विश्व का प्राचीनतम दर्शन है फिर भी अंधविश्वास आदि कुछ विकारों को इसमें मिला दिया गया है।

धर्म के निर्माण के लिये तीन उपादान आवश्यक होते हैं। प्रथम उपादान-'ग्रन्थ का स्थान सर्वोपरि है।' इसकी शक्ति अद्भुत है तथा यह मानवीय श्रद्धा के ध्रुव केन्द्र हैं। ऐसा कोई धर्म अस्तित्व में नहीं है जिसका अपना कोई ग्रन्थ नहीं है। जिन धर्मों का अपना कोई ग्रन्थ नहीं होता वे कुछ समय में ही दिवंगत हो जाते हैं। मेथोडिस्ट और बेपटिस्ट की भाँति एकत्ववादी (Unitarian) का प्रचार इसीलिये नहीं हुआ क्योंकि उसका अपना कोई धर्म ग्रन्थ नहीं था जब कि मुट्टी भर यहूदियों ने संगठन खड़ा कर लिया क्योंकि उनका अपना धर्म ग्रन्थ था। पारसी व जैन

अपने धर्म ग्रंथों के कारण जीवित धर्म हैं। धर्म का दूसरा उपादान है-'व्यक्ति विशेष के प्रति पूज्य भाव' एक मनुष्य के द्वारा किसी दूसरे विशिष्ट देहधारी मानव की उपासना करना अनिवार्य है। कोई अवतारी पुरुष, पैगम्बर या महान नेता मानव को उपासना के लिये चाहिये। हिन्दु और ईसाई धर्मों में अवतार की मान्यता है लेकिन बौद्ध, इस्लाम व यहूदी आदि धर्मों में पैगम्बर को वही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है लेकिन लक्ष्य सभी का समान है। धर्म का तीसरा उपादान है कि सबल और आत्म-विश्वास युक्त होने के लिये उसे केवल अपने को ही सत्य मानना चाहिये। अन्यथा जन समाज पर उसका प्रभाव नहीं के बराबर होगा।

वेदान्त धर्म के इन उपादानों में से किसी पर भी विश्वास नहीं करता है। वेदान्त की किसी ग्रंथ पर कोई आस्था नहीं है। एक ग्रंथ का दूसरे पर अधिकार उसे मान्य नहीं है। कोई भी ग्रंथ ईश्वर, जीव, परम तत्व आदि सभी सत्तों का आश्रय हो सकता है, इस दावे का प्रबल विरोध करता है। दूसरे वह व्यक्ति विशेष की आराधना को मान्यता नहीं देता एवं कोई भी एक स्त्री या पुरुष वेदान्तियों का आराधना का पात्र नहीं बन सकता है। कोई मानव किसी पक्षी या कीट की अपेक्षा अधिक पूज्य नहीं होता। हम सब भाई हैं। अन्तर केवल परिमाण का है। वेदान्त का अभिमत है कि हम सब ईश्वर हैं। सत्य-दर्शन के लिये तुम्हें अपने से भी बाहर जाने की जरूरत नहीं है। सभी अतीत और सभी अनागत इसी वर्तमान में निहित हैं। वर्तमान ही सब कुछ है। वेदान्त का प्रतिपाद्य है-'विश्व का एकत्व न कि विश्व बन्धुत्व'।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि महापुरुषों के आविर्भाव का अनुकूल समय आयेगा और उनके सतत प्रयासों से धर्म की ये शिशुशालायें विनष्ट हो जायेंगी और यथार्थ धर्म 'आत्मा से आत्मा की आराधना' अधिक सजीव और शक्तिशाली हो सकेगा।

वेदान्त के अनुसार ईश्वर क्या है? वह व्यक्ति नहीं विचार है, तत्व है। तुम और हम सगुण ईश्वर हैं। ईश्वर अनन्त है, निर्विशेष सत्ता है, सचिदानन्द है, निर्विकार है, अमर है, अभय है और हम सब उसके अवतार हैं, अंग मात्र हैं। वेदान्त के अनुसार ईश्वर यही है जिसका स्वर्ग सर्वत्र है। ईश्वर रूप में सबकी उपासना करो-सारे आकार उसके मन्दिर हैं। वेदान्त में कोई सम्प्रदाय नहीं, कोई शाखा प्रशाखा नहीं, कोई जाति भेद नहीं।

भारत विकास परिषद् आज अपनी स्थापना के 50 वर्ष बाद भी अपने प्रणेता व अपने आदर्श स्वामी विवेकानन्द के वेदान्त के इन्हीं विचारों व संदेशों को आत्मसात करते हुये भारत के निर्बल व निर्धन निवासियों को ईश्वर मानते हुये उनकी सेवा पूजा समझकर बिना किसी भेदभाव के करती चली आ रही है और नर सेवा-नारायण सेवा को अपनाकर सेवा उत्तरदायित्व है-उपकार नहीं की भावना के साथ भारतीय मूल्यों व आदर्शों में अपनी आस्था रखते हुये समाज में अनेकानेक सेवा प्रकल्पों का संचालन कर रही है। परिषद् मानती है कि धरती पर सभी मानव वेदान्त के उसी ईश्वर के अवतार हैं जिसका उल्लेख स्वामी जी के व्याख्यान में आया है। □

- किशोर अग्रवाल

Editor's Reflections

Pleasures of Reading

Last month I was visited by an old unfriendly friend-my back ache. This friend or rather enemy has been afflicting me for the last 30 years. Whenever I bend my back suddenly and with a jerk to pick up something from the ground or sit or stand in one position for long, it attacks me. It gives me excruciating pain. My orthopaedician prescribes me complete bed rest and almost no movement and some pain killers if the pain becomes unbearable. The back ache itself is painful but more painful is the boredom when I have nothing to do. I have no addiction for T.V. with its boring serials and the same news repeated after every half an hour. In such times books come to my rescue and I thank the great writers who authored them.

Really books are the best friends of man. And here by books I mean all reading material-magazines, periodicals and newspapers. One reads for pleasure as well as to acquire knowledge. Actually reading is a habit which requires to be cultivated. Of course, books provide knowledge but for those who have developed a taste for reading, there is more in books than mere knowledge. It gives them happiness, pleasure and sensuous satisfaction as well. Reading touches directly the spirit of the reader and gives him a sense of fulfilment. A man having worked hard during the day takes a newspaper, magazine or book, reads it and relaxes himself. While reading he forgets all the worries and cares. He feels relieved of the monotony of every day life.

Books are written by learned persons. They contain the best experiences and thoughts of their writers. Literature is said to be the mirror of the society. Writers put in the books

not only their own ideas and feelings but also what they observe and find in the society. By reading books written by great thinkers, we come in contact with their minds.

On a long journey or when we are alone, books are our best friends. They entertain us and the loneliness, instead of boring us, becomes a source of pleasure. In such times story books, travel accounts and short stories etc. give great enjoyment. A novel with a good plot makes us eager to know what will happen next and the story becomes so gripping that we are unwilling to lay aside till we have read upto the end. Sometimes we tend to identify ourselves with the hero or heroine and experience his/her joys and sorrows, atleast for the time being.

If we are in a cheerful mood, our joy is increased by reading. When we feel depressed and dejected, books console us and soothe our troubled minds. They provide us with the best advice and guidance in our difficulties. Indeed books are our best friends as they help us in our need.

Now a days the world is changing fast. Without reading the latest books and magazines, a man cannot remain in touch with the changes taking place in his own country or in the world. It gives us great pleasure and satisfaction that our knowledge is up to date. If one wants to be respected in cultured society he must keep himself well informed. That is why the famous English author Bacon said that reading makes a full man.

Reading not only gives us pleasure but it is a bliss also. Great books contain wisdom and give us sound moral advice. Reading great people reminds us to be more sensitive towards the purpose of life. Our life is wasted if we exit this world without having done any thing to make a difference to the quality of society we live in.

S.C.



Holy Wisdom

तत्त्व ज्ञान

Vivekananda's Ideal of Service

जीवसेवाव्रतं यस्य लक्ष्यमासीन्महीतले।
ज्ञानमात्मगतं यो वै तेन मार्गेण सङ्गतः॥
कर्मिणे ज्ञानिने चैव भक्ताय स्वामिने पुनः।
विवेकानन्दरूपाय भूयो भूयो नमाम्यहम्॥

One whose aim was to serve the jivas (as Shiva) on this earth, and who realized the knowledge of the Atman treading this very path-that Swami Vivekananda, a man of action, a jnani and a bhakta, I salute again and again.



जिनके जीवन का एक मात्र उद्देश्य इस पृथ्वी के जीवों की सेवा करना था, जिन्होंने इसी मार्ग पर चलते हुए आत्म ज्ञान प्राप्त किया, जो कर्मयोगी, विचारक एवं भक्त थे, ऐसे स्वामी विवेकानन्द को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।



संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कृतस्तद्धनलुब्धानाम् इतश्चेतश्च धावताम्॥



The happiness which is obtained by those who are satisfied by the nectar in the form of contentment and whose mind is full of peace, whence can that happiness be obtained by those, who are greedy for wealth and run after it here and there?

- Dhvanyalok

Some Thoughts of Dr. Suraj Prakash Ji

- S.K. Wadhwa-Secretary General

We remembered Dr. Suraj Prakash Ji on 27th June on his 92th birth anniversary and also celebrated the 49th foundation day of Bharat Vikas Parishad on 10th July. Dr. Saheb not only founded the Parishad but very ably led it for more than 27 years. He kept a keen eye on the working and conduct of its branches and members and gave necessary directions. He expressed his thoughts through some articles in NITI. These thoughts and directions are still relevant. Here I want to give some of them in a short form and you will find how useful these are even today.

The Bane of Unpunctuality - I am most disappointed and pained to come across instances of gross unpunctuality on almost every occasion in every part of the country which shows that during all these years of our close association with BVP the majority of our members have failed to imbibe this quality and make it a habit of life. We expect others to be punctual but rarely try to be punctual ourselves. Sometimes even the Secretary or Convener of a function does not reach the venue in time and guests and the chief guest have to waste time. This creates a very poor impression of the Parishad. So, I expect the members in general and executive members in particulars to observe strict punctuality and ensure that all arrangements for a function are completed well in advances of the given time.

Discipline - Discipline is the cornerstone of every organization including BVP. The Parishad is based on the firm principles of discipline, selfless service and sacrifice. If somebody develops an inflated ego and mistakenly believes that he is above the organization and need not take directions from above he is a misfit in the organization. The Parishad has a three tier set up and the guidance, supervision and monitoring of the branch activities is the responsibility of the Prant executive. Similar is the case with Prant which works under the Central Ex-

ecutive. There can be no questioning or non-compliance of the authority or direction of the Prant by a branch.

Service without Fanfare - More service than publicity is the watchword of BVP. We must be careful to eliminate programmes and projects which serve little purpose, carry us no-where nearer to our cherished goals and consume too much of our effort, time and resources. I am referring to activities which begin and end with socializing, feasting, and merrymaking. We must exercise economy and avoid financial crisis.

We must do sewa in a missionary spirit with simplicity and dedication. The longing for too much publicity may lead to self-publicity and self-aggrandisement which should be avoided at all costs.

Simple living and high thinking should be our motto.

Bharat Vikas Parishad is a Non-Political Organization - BVP has no political aims or ambitions and has no connection, whatsoever, with any other organization. As individuals, its members are free to hold political views of their own so long as their views do not come into conflict with the ideals of the Parishad. No member of BVP, however high in Parishad hierarchy, can be permitted to involve the Parishad in an activity likely to serve the interests of a political party. So the Parishad denies political activists any significant role in the organization.

Bharat Vikas Parishad is Not a Club - BVP is a non-political, socio-cultural organization of the elites. There are other organizations of the elites functioning in the country like Lions club and Rotary club. But there are some fundamental differences between the Parishad and those clubs.

The first difference is that a member of Lions club can not become a member of the Rotary club and vice-versa. In Parishad there is no such restriction. Secondly, these organizations were born outside India, draw inspiration from alien sources and carry a stamp of an alien culture. A big proportion of the funds raised by them goes to the foreign countries. Although these clubs use local languages and the National anthem is also sung but there is a feeling of inferiority that per-

sists among them in relation to the West.

On the country, BVP is wholly and totally an indigenous organization, which is intensely nationalist in its outlook. It was conceived and born in India and draws its inspiration from Indian culture and values.

But the fundamental difference between the two is that the aim of the clubs is essentially social get together and eating and entertainment are integral to it. The Parishad also appreciates the importance of fellowship but for we people it is a means to an end and not an end in itself.

Social service is the aim of both the Parishad and clubs but the definition of service is different. The Parishad works for the total development of the country, for the propagation of our culture and moral values and for bringing about a change in the thinking of our people. On the other hand service for the clubs is a cosmetic affair which gives them a feeling of self-satisfaction. A small fraction of the money is spent on service and more goes on entertainment and publicity.

Women's participation - The role of women in bringing about social change and creating awareness and awakening among our women cannot be over emphasized. To increase women's participation in Parishad's activities its membership has been extended to the couple. Among other committees a Mahila Samiti is also formed to execute the policies and programmes at local level. But the formation of a Mahila wing as a parallel body is unthinkable, as it is repugnant to the very concept of joint membership. Mahila wings with their paraphernalia of a separate President, Secretary and Treasurer have no place in the Parishad. The Mahila Samiti with its convener should work as an integral part of the branch under the supervision and control of the executive body. However, more and more women should be included in the executive body and encouraged to hold important offices like President, Secretary, Treasurer etc.

We all should strictly and faithfully follow the guidelines laid down by the founder of BVP.



Is Vedanta The Future Religion?

Swami Vivekananda

- Abstracts from a lecture delivered in Sanfrancisco on April 8, 1900

Vedanta is the most ancient religion of the world, but it can never be said to have become popular. Therefore the question "Is it going to be the religion of the future?" is very difficult to answer.

I shall begin by telling you what Vedanta is not, and then I shall tell you what it is. But you must remember that, with all its emphasis on impersonal principles, Vedanta is not antagonistic to anything, though it does not compromise or give up the truths which it considers fundamental.

You all know that certain things are necessary to make a religion. First of all, there is the book.

The second requisite, to make a religion, is veneration for some person. The third requisite seems to be that a religion, to be strong and sure of itself, must believe that it alone is the truth; otherwise, it cannot influence people.

Liberalism dies because it is dry, because it cannot rouse fanaticism in the human mind, because it cannot bring out hatred for everything except itself.

A prophet arises, promises all kinds of rewards to those who will follow him and eternal doom to those who will not. Thus he makes his ideas spread. All existent religions that are spreading are tremendously fanatic. The more a sect hates other sects, the greater is its success and the more people it draws into its fold.

Vedanta does not believe in any of these teachings. First, it does not believe in a book-that is the difficulty to start with: It denies the authority of any book over any other book. It denies emphatically that any one book can contain all the truths about God, soul, the ultimate reality. Those of you who have read the Upanishads remember that they say again and again, "Not by the reading of books can we realise the self."

Second, it finds veneration for some particular person still more difficult to uphold. Those of you who are students of Vedanta-by Vedanta is always meant the Upanishads-know that this is the only religion that does not cling to any person. Not one man or woman has ever become the object of worship among the Vedanta.

A still greater difficulty is about God. You want to be democratic in this country. It is the democratic God that Vedanta teaches.

You have a government, but the government is impersonal. Yours is not an autocratic government, and yet it is more powerful than any monarchy in the world. Nobody seems to understand that the real power, the real life, the real strength is in the unseen, the impersonal, the nobody. As a mere person separated from others, you are nothing, but as an impersonal unit of the nation that rules itself, you are tremendous. You are all one in the government-you are a tremendous power. But where exactly is the power? Each man is the power. There is no king. I see everybody equally the same. I have not to take off my hat and bow low to anyone. Yet there is tremendous power in each man.

Vedanta is just that. Its God is not the monarch sitting on a throne, entirely apart. There are those who like their God that way-a God to be feared and propitiated. They burn candles and crawl in the dust before Him. They want a king to rule them; they believe in a king in heaven to rule them all. The king is gone from this country at least. Where is the king of heaven now? Just where are earthly kings. In this country the king has entered every one of you. You are all kings in this country. So with the religion of Vedanta. You are all Gods, says the Vedanta.

This makes Vedanta very difficult. It does not teach the old idea of God at all. In place of that God who sat above the clouds and managed the affairs of the world without asking our permission, who created us out of nothing just because He liked it and made us undergo all this misery just because he liked it, Vedanta teaches the God that is in everyone, has become everyone and everything. His majesty the king has gone from this country; the kingdom of heaven went from Vedanta hundreds of years ago...

X X X X X X

These are what Vedanta has not to give. No book. No man, to be singled out from the rest of mankind-"You are worms and we are the Lord God!" none of that. If you are the Lord God, I also am the Lord God. So Vedanta knows no sin. There are mistakes but no sin, and in the long run everything is going to be all right. No Satan, none of this nonsense. Vedanta believes in only one sin, only one in the world, and it is this: the moment you think you are a sinner or anybody is a sinner, that is sin. From that follows every other mistake or what is usually called sin. There have been many mistakes in our lives.

You see, Vedanta proposes no sin nor sinner. No God to be afraid of. He is the one being of whom we shall never be afraid, because He is our own self. There is only one being of whom you cannot possibly be afraid; He is that. Then isn't it really the most superstitious person who has fear of God? There may be someone who is afraid of his shadow, but even he is not afraid of himself. God is man's very self. He is the one being whom you can never possibly fear.

x x x x x x

What does Vedanta teach us? In the first place, it teaches that you need not even go out of yourself to know the truth. All the past and all the future are here in the present. No man ever saw the past. Did any one of you see the past? When you think you are knowing the past, you only imagine the past in the present moment. To see the future, you would have to bring it down to the present, which is the only reality-the rest is imagination. This present is all that is. There is only the One. All is here right now. One moment in infinite time is quite as complete and all-inclusive as every other moment. All that is and was and will be is here in the present. Let anybody try to imagine anything outside of it-he will not succeed.

x x x x x x

Therefore Vedanta formulates, not universal brotherhood, but universal individuality, that piggishness.

What is the gain? The pig body is hard to give up; we are sorry to lose the enjoyment of our one little pig body! Vedanta does not say, Give it up; it says Transcend it. No need of asceticism-better

would be the enjoyment of two bodies-better three. Living in more bodies than none! When I can enjoy through the whole universe, the whole universe is my body.

x x x x x x

Whatever you dream and think of, you create. If it is hell, you die and see hell. If it is evil and Satan, you get a Satan. If ghosts, you get ghosts. Whatever you think, that you become. If you have to think, think good thoughts, great thoughts. This taking for granted that you are weak little worms! By declaring we are weak we become weak; we do not become better. Suppose we put out the light, close the windows, and call the room dark. Think of the nonsense, what good does it to me to say I am a sinner? If I am in the dark, let me light a lamp. The whole thing is done. Yet how curious is the nature of men! Though always conscious that the universal mind is behind their life, they think more of Satan, of darkness and lies. You tell them the truth-they do not see it; they like darkness better.

x x x x x x

This forms the one great question asked by Vedanta - Why are people so afraid ? The answer is that they have made themselves helpless and dependent on others. We are so lazy, we do not want to do anything for ourselves. We want a personal God, a saviour or a prophet to do everything for us. The very rich man never walks, always goes in the carriage; but in the course of years, he wakes up one day paralysed all over. Then he begins to feel that the way he had lived was not good after all. No man can walk for me. Every time one did, it was to my injury. If everything is done for a man by another, he will lose the use of his own limbs.

x x x x x x

What is the God of Vedanta? He is principle not person. You and I are all personal Gods. The absolute God of the universe, the creator, preserver and destroyer of the universe, is impersonal principle. You and I, the cat, rat, devil, and ghost, all these are Its persons-all are personal Gods. You want to worship personal Gods. It is the worship of your own self...

God is the infinite, impersonal being, ever existent, unchanging, immortal, fearless, and you are all His incarnations, His em-

bodiments. This is the God of Vedanta and His heaven is everywhere. In this heaven dwell all the personal Gods there are-you yourselves.

The infinite truth is never to be acquired. It is here all the time, undying and unborn. He, the Lord of the universe, is in everyone. There is but one temple-the body. It is the only temple that ever existed. In this body He resides, the Lord of souls and the King of Kings. We do not see that, so we make stone images of Him and build temples over them...

X X X X X X

Worship everything as God-every form is His temple. All else is delusion. Always look within, never without. Such is the God that Vedanta preaches and such is His worship. Naturally there is no sect, no creed, no caste in Vedanta...

The unity of all existence - you all have it already within yourselves. None was ever born without it. However you may deny it, it continually asserts itself. What is human love? It is more or less an affirmation of that unity-"I am one with thee, my wife, my child, my friend!" Only you are affirming the unity ignorantly. "None ever loved the husband for the husband's sake, but for the sake of the Self that is in the husband." The wife finds unity there. The husband sees himself in the wife-instinctively he does it, but he cannot do it knowingly, consciously.

X X X X X X

The whole universe is one existence. There cannot be anything else. Out of diversities we are all going towards this universal existence. Families into tribes, tribes into races, races into nations, nations into humanity-It is all knowledge, all science - the realisation of this unity.

Unity is knowledge, diversity is ignorance. This knowledge is your birthright.

This Vandata is everywhere, only you must become conscious of it.

X X X X X X

Christ said, "I and my father are one," and you repeat it. Yet it

has not helped mankind. For nineteen hundred years men have not understood that saying. They make Christ the saviour of men. He is God and we are worms! Similarly, in India, in every country, this sort of belief is the backbone of every sect. For thousands of years millions and millions all over the world have been taught to worship the Lord of the world, the incarnations, the saviours, the prophets. They have been taught to consider themselves helpless, miserable creatures and to depend upon the mercy of some person or persons for salvation. There are no doubt many marvellous things in such beliefs. But even at their best, they are but kindergartens of religion, and they have helped but little. Men are still hypnotised into abject degradation. However, there are some strong souls who get over that illusion. The hour comes when great men shall arise and cast off these kindergartens of religion and shall make vivid and powerful the true religion; the worship of the spirit by the spirit.



TWO SPECIAL ISSUES OF GYAN PRABHA

The next two issues of Gyan Prabha will be the following special issues:-

- 150th Birth Anniversary of Swami Vivekanand (Oct. 2012 to March, 2013)
- Golden Jubilee year of BVP (April, 2013 to September, 2013)

These issues will be bigger in size and will contain more pages. The first issue will carry rare articles on and by Swami Vivekanand. The second issue will cover the complete history of 50 years of BVP and the life story of its makers.

The advertisement rates are as follows:

- | | |
|--|----------|
| 1. Back cover (Multicolor Art Paper) | 10,000/- |
| 2. Cover Page 2 and 3 (Multicolor Art Paper) | 8,000/- |
| 3. Black & White (Full Page) | 5,000/- |
| 4. Black & White (Half Page) | 3,000/- |

Rates are for one issue each.

Book your advertisements by September, 2012

Some Great Men's Thoughts About Swami Vivekanand

SARVEPALLI RADHAKRISHNAN

When I was a student in the early years of this century, a student in high school and college classes, we used to read Swami Vivekananda's speeches and letters which were then passing from hand to hand in manuscript form, and they used to stir us a great deal and make us feel proud of our ancient culture. Though our externals were broken down, the spirit of our country is there and is everlastingly real—that was the message which we gathered from his speeches and writings when I was a young student.

There is nothing higher than humanity. But so far as we are concerned, a human individual is a lamp of Spirit on earth, the most concrete living embodiment of Spirit....By standing up for the great ideals of Hindu religion, the great ideals that alone can save humanity, by standing up for them, Swami Vivekananda tried to lead humanity to a nobler and better path than that which if found itself in. ...If you really believe in the divine spark in man, do not for a moment hesitate to accept the great tradition which has come to us, of which Swami Vivekananda was the greatest exponent.

We are today at a critical period not merely in the history of our country but in the history of the world. There are many people who think we are on the edge of an abyss. There is distortion of values, there is lowering of standards, there is widespread escapism, a good deal of mass hysteria, and people think of it and collapse in despair, frustration, hopelessness. These are the only things which are open to us. Such a kind of lack of faith in the spirit of man is a treason to the dignity of man. It is an insult to human nature. It is human nature that has brought about all the great changes that have taken place in this world.

And if there is any call which Vivekananda made to us, it is to rely on our own spiritual resources. ...Man his inexhaustible spiritual resources. His spirit is supreme, man is unique. There is nothing inevi-

table in this world, and we can ward off the worst dangers and worst disabilities by which we are faced. Only we should not lose hope. He gave us courage in despair. He told us : 'Do not be led away by the appearances. Deep down there is a providential will, there is a purpose in this universe. You must try to co-operate with that purpose and try to achieve it.

Dr. RAJENDRA PRASAD

Men who lead their fellow beings in any sphere of life are rare and those that lead their leaders are rarer still. These superguides come not very often upon this earth to uplift the sinking section of humanity. Swami Vivekananda was one of these super souls.

It was he who could set the sceptic mind of the West at the rest in the spiritual arena. Ambassadors of spiritual missions had risen before him in the East, but none could speak to the West as he did with that voice of conviction, keeping audiences spellbound and enthralled. The worthy disciple of the worthy Master rose to the pinnacle of spiritual eminence, preaching the gospel of the innate oneness of the human race, and preaching universal love and the affinity of all human souls.

Not only Indians but Westerners too stand indebted to Swami Vivekananda for the bequest of viveka (wisdom) to posterity. The ideal he stood for made universal brotherhood of man an understandable proposition to a world which was wedded to colour prejudice, having its roots in the slavery of man. His spiritual approach roused the conscience of the thinking section of the human community all over the world and he succeeded in bringing home to the West the greatness of the Vedic civilization. The great disciple of the great Master immortalized the fame and prestige of the land of his birth in a way which remains unrivalled even in the annals of Indian spiritualism in modern times. The sceptical youth with the intrepid spirit rose to be the ablest and wisest heir to the legacy of spiritual wealth of the great enlightened one.

Mankind ought to be taught that religions are but the varied expressions of THE RELIGION, which is Oneness, so that each may choose the path that suits him best.

- Swami Vivekananda

The Three Steps of Patriotism

- Swami Vivekanand

You talk of patriotism. I believe in patriotism, and I also have my own ideal of patriotism. Three things are necessary for great achievements. First, feel from the heart. What is in the intellect or reason? It goes a few steps and there it stops. But through the heart comes inspiration. Love opens the most impossible gates; love is the gate to all the secrets of the universe. Feel, therefore, my would-be reformers, my would-be patriots ! Do you feel? Do you feel that millions and millions of the descendants of gods and sages have become next-door neighbours to brutes ? Do you feel that millions are starving today, and millions have been starving for ages? Do you feel that ignorance has come over the land as a dark cloud? Does it make you restless? Does it make you sleepless ? Has it gone into your blood, coursing through your veins, becoming consonant with your heartbeats ? Has it made you almost mad ? Are you seized with that one idea of the misery of ruin, and have you forgotten all about your name, your fame, your wives, your children, your property, even your own bodies ? Have you done that? That is first step to become a patriot, the very first step.

The second step is, "You may feel, then; but instead of spending your energies in frothy talk, have you found any way out, any practical solution, some help instead of condemnation, some sweet words to soothe their miseries, to bring them out of this living death?" This is second step to become a patriot.

"Yet that is not all. Have you got the will to surmount mountain high obstructions? If the whole world stands against you sword in hand, would you still dare to do what you think is right? If your wives and children are against you, if all your money goes, your name dies, your wealth vanishes, would you still pursue it and go on steadily towards your own goal ? As the King Bhartrihari says, "Let the sages blame or let them praise; let the goddess of fortune come or let her go wherever she likes; let death come today, or let it come in hundreds of years; he indeed is the steady man who does not move one inch from the way of truth." Have you got that steadfastness? If you have these three things, each one of you will work miracles."

८

भारत के महान परिव्राजक सन्यासी

- स्वामी विवेकानन्द

- विजय कुमार शर्मा

भारतवर्ष को ऋषि, मुनियों, साधु, सन्यासियों का देश कहा जाता है। यहां अनेक ऐसे महान् व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने न केवल अपने जन्मस्थलीय क्षेत्र में अध्यात्मवाद व वेदान्त की सनातन परम्परा को फैलाया वरन् समस्त भारतभूमि का परिभ्रमण कर जनमानस में चेतना जागृत की। इन परिव्राजक सन्यासियों में एक सन्यासी तो ऐसे भी हुए जिन्होंने न केवल चार बार सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया बल्कि विश्व का भी दो बार भ्रमण कर भारत का परचम पूरे संसार में फहराया। ये महान् सन्यासी स्वामी विवेकानन्द के नाम से पूरी दुनिया में विख्यात हैं। इनकी 150वीं जयंती के उपलक्ष्य में 12 जनवरी 12 से 12 जनवरी 2013 तक पूरे एक वर्ष के लिए विश्व में उत्तर शताब्दी समारोह मनाये जा रहे हैं।

अपने गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस की महासमाधि के उपरान्त उनके शिष्यों ने बराहनगर मुहल्ले में बराहनगर मठ के नाम से रामकृष्ण संघ के सन्यासियों का प्रथम मठ स्थापित किया। मठ में रहते हुए स्वामीजी को यह अनुभूति होने लगी कि केवल एक ही स्थान में रहकर वे अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकेंगे। उनके गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस ने उन्हें नर सेवा नारायण सेवा का मंत्र दिया था और कहा था कि निर्धन, दलितों व निरक्षर की सेवा ही भगवान् की असली पूजा है। अतः स्वामी जी ने देश का भ्रमण कर विभिन्न स्थानों की आध्यात्मिक संस्कृति, वहां की परम्पराओं रीति-रिवाजों का अध्ययन कर मानव मात्र के कल्याणार्थ अपने आपको अर्पित करने का निर्णय लिया।

अतएव फरवरी 1888 में उन्होंने अपनी प्रथम यात्रा बिहार से प्रारंभ की। वहां के विभिन्न नगरों का भ्रमण करते हुए काशीनगरी पहुंचे। काशी में उनकी मुलाकात प्रसिद्ध सन्त व विद्वान तैलंग स्वामी तथा भास्करानन्द से हुई जो स्वामी जी से अत्यन्त प्रभावित हुए।

1889 में स्वामीजी पुनः काशी पहुंचे जहां इस बार उनकी भेंट परमहंस जी के प्रिय शिष्य स्वामी अखण्डानन्द व एक अन्य विद्वान प्रमदादास से हुई। प्रमदादास वेदान्त

व संस्कृत साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान थे। उन्होंने स्वामी जी को हिन्दू रीति-रिवाजों व शास्त्रों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान की।

उत्तर भारत की यात्रा से सन् 1889 में वापिस लौटने पर स्वामी जी बराह नगर मठ में लगभग एक वर्ष रहे और जुलाई 1890 में सम्पूर्ण भारत की यात्रा पर निकल पड़े। भागलपुर, काशी व अयोध्या होते हुए वह नैनीताल पहुंचे जहां से बद्रीनाथ, केदारनाथ, अल्मोड़ा, देहरादून होते हुए ऋषिकेश पहुंच गए। लेकिन यहां आकर वह गंभीर रूप से बीमार हो गए। एक सन्यासी की औषधि से उन्हें चमत्कारिक रूप से स्वास्थ्य लाभ हुआ। वहां से जनवरी 1891 में वह दिल्ली की ओर चल पड़े और राजपुताना, अहमदाबाद, काठियावाड़, द्वारिका, हैदराबाद, बंगलौर, कोचीन होते हुए दिसम्बर 1892 में कन्याकुमारी पहुंच गए।

स्वामी जी की दो वर्ष की यह यात्रा अत्यन्त कठिन व कष्टमय रही। उनके पास केवल एक जोड़ी वस्त्र थे, भिक्षा मांगकर क्षुधापूर्ति होती थी जिसमें भी कभी-कभी तो दो-तीन दिन तक भूखा ही रहना पड़ता था। जंगल में रात्रि निवास में चोर, डाकूओं से भी सामना हो जाता था। यात्रा के दौरान जन साधारण की घोर निर्धनता व पीड़ा देखकर उनका हृदय विदीर्ण हो गया। उनका यह दृढ़ विश्वास हो गया कि बिना गरीबी व कष्टों को दूर किए जनता को धर्म व वेदान्त समझाना व्यर्थ है। लोग निर्धनता व अशिक्षा के साथ-साथ रूढ़िवाद, जात-पात व छुआछूत तथा अंधविश्वासों से भी ग्रसित थे। यह सब देखकर स्वामी जी मानसिक रूप से अत्यन्त व्यथित हो गए और वे एकाग्रचित्त होकर समस्या के निराकरण हेतु चिंतन करना चाहते थे। कन्याकुमारी के समुद्र तट दूर उन्हें एक शिलापट दिखाई दिया। पैसे के अभाव में वहां नाव से न पहुंच पाने के कारण शार्क मछलियों की परवाह न करते हुए वे तैरकर ही वहां पहुंच गए और तीन दिन तक वहां ध्यानमग्न होकर चिंतन किया। वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जनता को अधिक आवश्यकता शिक्षा, भोजन व स्वास्थ्य की है न कि धर्म की। अतः इस कार्य हेतु समर्पित व कर्मठ कार्यकर्ता व प्रचुर मात्रा में धन की आवश्यकता है। कार्यकर्ता के रूप में तो उनके हजारों सन्यासी भाई उन्हें उपलब्ध थे लेकिन धन की व्यवस्था एक बड़ी समस्या थी। उन्हें स्मरण आया कि शीघ्र ही अमेरिका में एक विश्वधर्म सम्मेलन आयोजित होने जा रहा है। उन्होंने विचार किया कि वहां वे पाश्चात्य देशों को भारत के दर्शन व अध्यात्म से अवगत करा सकेंगे और वहां के धनी देशों से भारत के लिए आर्थिक सहायता जुटा सकेंगे।

अतः 31 मई 1893 को मुम्बई से जलयान द्वारा स्वामी जी अमेरिका के लिए रवाना हो गए। खेतड़ी के महाराजा तथा कुछ अन्य मित्रों ने इस यात्रा के लिए

आवश्यक धन की व्यवस्था की। कोलम्बो, सिंगापुर, टोक्यो, बैकुअर (कनाडा) होते हुए 15 जुलाई 1893 को वे शिकागो पहुंच गए। वहां पहुंचकर पता चला कि सम्मेलन सितम्बर तक के लिए स्थगित हो चुका है। एक धनाट्य महिला का आतिथ्य मिल जाने से उनके दो माह गुजर सके। अन्ततः 11 सितम्बर 1893 को विश्वधर्म सम्मेलन प्रारंभ हुआ।

विश्वभर के 7000 प्रतिनिधियों व श्रोताओं से खचाखच भरे सभागार में पहले दिन स्वामी जी को बोलने का अवसर तीसरे पहर काफी बाद में आया। स्वामी जी के पास कोई लिखित भाषण नहीं था जबकि अन्य सभी वक्ता लिखित भाषण से ही बोल रहे थे। स्वामी जी को थोड़ी घबराहट भी थी क्योंकि इतने बड़े समागम में बोलने का पहला मौका था। लेकिन ज्यों ही उन्होंने अपनी ओजस्वी वाणी में संबोधन हेतु आरंभिक शब्द बोले—“अमेरिका के भाई व बहनों” पूरा सभागार ही तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा और सभी श्रोता खड़े होकर लगातार दो मिनट तक करतल ध्वनि करते रहे। स्वामी जी अकेले ऐसे वक्ता थे जिन्होंने औपचारिक शब्दों के स्थान पर उक्त आत्मीय शब्दों द्वारा सभा को संबोधित किया था। स्वामी जी का प्रथम दिवस का यह भाषण केवल तीन मिनट का था किन्तु अत्यन्त सारगर्भित था। यद्यपि उन्होंने हिन्दू धर्म को सब धर्मों की माता बतलाया लेकिन किसी भी धर्म की कोई आलोचना नहीं थी। उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्म विश्व का सबसे सहनशील धर्म है जिसने धर्म के नाम पर प्रताड़ित किए गए व देश निकाला दिए गए अन्य देशों के लोगों को भी पनाह दी है। उन्होंने कहा कि संसार के समस्त धर्म व पंथ एक ही परमेश्वर तक पहुंचते हैं। गीता का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा कि भगवान् कृष्ण ने कहा था कि विभिन्न लोग विभिन्न रास्तों पर चलते हैं लेकिन अन्त में वे उन तक ही पहुंच जाते हैं।

तीन मिनट के इस भाषण से स्वामी विवेकानन्द विश्व प्रसिद्ध व्यक्ति बन गए। अगले ही दिन समाचार पत्रों में उन्हें प्रमुख स्थान दिया गया व सड़कों पर चित्र लगा दिए गए। यह सम्मेलन 17 दिन चला जिसमें स्वामी जी ने दस भाषण और दिए। उनका भाषण अन्त में रखा जाता था जिसे सुनने के लिए श्रोता कुरसियों पर जमे रहते थे।

इस सम्मेलन के उपरान्त स्वामी जी को अमेरिका के अन्य शहरों में भी भाषण देने के निमंत्रण प्राप्त हुए। इंग्लैंड व अन्य यूरोपियन देशों का भी उन्होंने भ्रमण किया। इस प्रकार तीन वर्षों से भी अधिक समय तक विभिन्न देशों में व्याख्यान, वार्ताएं व योग प्रशिक्षण देने के उपरान्त स्वामी जी ने दिसम्बर 1896 में भारत के लिए प्रस्थान किए। 15 जनवरी 1897 को वह कोलम्बो पहुंचे जहां से स्थल मार्ग से मद्रास पहुंचे।

मद्रास में हजारों लोगों ने उनका भव्य स्वागत किया। वहां उन्होंने पांच भाषण दिए।

20 फरवरी 1897 को स्वामी जी मद्रास से कलकत्ता पहुंचे जहां उनका अभूतपूर्व सार्वजनिक अभिनन्दन किया गया। अपने धन्यवाद उत्तर में स्वामीजी ने कहा कि राष्ट्र के सभी मनुष्य व पशु हमारे देवता हैं, उनकी सेवा ही पूजा है। शीघ्र ही उन्होंने समस्त सन्यासियों की एक बैठक बुलाई जिसमें धर्म के प्रचार एवं जनता की सेवा के दो उद्देश्य मुख्य रूप से रखे गए। उन्होंने कहा कि बिना संगठन के कोई स्थायी उपलब्धि संभव नहीं होगी। बैठक में निर्णय लिया गया कि रामकृष्ण के आदर्शों व विचारों के प्रचार-प्रसार हेतु एक संस्था बनाई जाएगी जो वेदान्त व धार्मिक विचारों को जन साधारण तक पहुंचायेगी। इस प्रकार 1 मई 1897 को रामकृष्ण मिशन की स्थापना की गई।

कुछ समय पश्चात् स्वामी जी पुनः उत्तर भारत की यात्रा पर निकल गए और लखनऊ, अल्मोड़ा, अम्बाला, अमृतसर, काश्मीर, देहरादून, दिल्ली, अलवर, किशनगढ़, अजमेर, जोधपुर, इन्दौर होते हुए खंडवा तक गए। मार्च 1898 में कलकत्ता में प्लेग फैलने की खबर के कारण उसके निवारण हेतु तत्काल ही कलकत्ता लौट आए। प्लेग पर नियंत्रण होने के उपरान्त स्वामी जी 11 मई को नैनीताल पहुंचे जहां से वह अल्मोड़ा गये।

पश्चिम में प्रारम्भ किए गए अपने आश्रमों को देखने व कार्यकर्ताओं को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से स्वामी जी ने 20 जून 1899 को कलकत्ता से पुनः विदेश यात्रा प्रारंभ की। मद्रास, कोलम्बो, लन्दन के रास्ते वे 31 जुलाई को लन्दन पहुंचे। दो सप्ताह वहां रुकने के पश्चात् वे न्यूयार्क के लिए रवाना हुए। वहां पहुंच कर उन्होंने न्यू जर्सी, लास एन्जलिस, शिकागो, डेट्रायट इत्यादि नगरों में उन्होंने अनेक भाषण दिये। इस यात्रा के दौरान उन्होंने उत्तरी कैलीफोर्निया में शान्ति आश्रम की स्थापना की तथा सैन फ्रांसिस्को में भी एक वेदान्त आश्रम स्थापित किया।

अपनी वापसी यात्रा में वे 20 जुलाई 1900 को पेरिस पहुंचे जहां एक अगस्त को उन्हें यूनिवर्सल एक्सपोजीशन नामक सम्मेलन में भाग लेना था। यहां उनके भाषण का विषय रखा गया- 'क्या वैदिक धर्म की उत्पत्ति प्रकृति पूजा से हुई है? स्वामी जी ने वेदों की व्याख्या करते हुए सिद्ध किया कि हिन्दू व बौद्ध धर्म का आधार वेद ही है।

24 अक्टूबर 1900 को पेरिस से रवाना होकर स्वामी जी हंगरी, रूमानिया, सर्बिया, बुल्गारिया, काहिरा हो हुए 9 दिसम्बर 1900 को वापस वेलुरमठ पहुंच गये।

(शेष पृष्ठ 24 पर)

समष्टि ही आराध्य है

— दीनदयाल उपाध्याय

हमारा सबका सुख सामूहिक सुख है, और दुःख सामूहिक दुःख है। राष्ट्र के गौरव में ही हमारा गौरव है। परन्तु आदमी जब इस सामूहिक भाव को भूलकर अलग-अलग व्यक्तिगत धरातल पर सोचता है, तो उससे नुकसान होता है। जब हम सामूहिक रूप से अपना-अपना काम करके राष्ट्र की चिंता करेंगे, तो सबकी व्यवस्था हो जाएगी।

यह मूलभूत बात है कि हम सामूहिक रूप से विचार करें, समाज के रूप से विचार करें, व्यक्ति के नाते से नहीं। इसके विपरीत कोई भी काम किया गया तो वह समाज के लिए घातक होगा। सदैव समाज का विचार करके काम करना चाहिए।

हमारा आर्थिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक एवं नैतिक विकास सब कुछ समाज के साथ जुड़ा हुआ है, हिमालय की गुफा में योगाभ्यास करके मुक्ति नहीं मिल सकती, योगाभ्यास भले ही हो जाए। मुक्ति भी व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक है, समष्टिगत है। जब समाज मुक्त होगा, ऊंचा उठेगा, तो व्यक्ति भी मुक्त होगा, ऊंचा उठेगा।

भगवान ने भी अवतार लिया तो धर्म की रक्षा के लिए। आज तक कोई भी अवतार गुफा में बैठकर योगाभ्यास के लिए नहीं हुआ। भगवान कृष्ण ने तो जीवन भर कार्य किया। उन्होंने सम्पूर्ण समाज को अपने सामने रखकर कर्म किया। निष्कर्ष यह है कि समाज के लिए किया गया काम भगवान का काम है, और सिर्फ अपने लिये किया गया काम शैतान का काम है। राष्ट्र की भक्ति यानी समाज की भक्ति, यही वास्तव में भगवान की भक्ति है।

महाभारत के युद्ध को देखें तो उसमें एक बड़े मजे की चीज आयी है। कहा गया है-**यतो धर्मस्ततो जयः।** पांडवों की विजय धर्म के कारण हुई। परंतु सवाल यह आता है कि युद्ध में कौरवों के सभी सेनानी छल से ही मारे गये। शिखंडी को खड़ा करके अर्जुन ने पीछे से भीष्म का वध किया। द्रोणाचार्य, कर्ण, दुर्योधन आदि सभी छल से मारे गये। यह सब छल पांडवों ने किया।

क्या युधिष्ठिर का यह झूठ बोलना धर्म है? कृष्ण के छल द्वारा जयद्रथ का वध क्या धर्म है? शिखंडी के पीछे से भीष्म को मारना क्या धर्म है? लगता है कि यह सब तो अधर्म है। परंतु यह अधर्म होते हुए भी हम कहते हैं-जहां धर्म है, वहीं जय

है। इसे देखकर लगता है कि महाभारत ने भी धोखा दिया है। धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार किया है, या फिर कथन की गलती है।

परंतु विचार करें तो यह पता लगता है कि कौरव-पक्ष और पांडव-पक्ष में अगर कोई अंतर था, तो सिर्फ यह कि कौरव पक्ष का हर व्यक्ति व्यक्तिवादी था, समष्टिवादी नहीं। वह समाज का विचार करने को तैयार ही नहीं था।

भीष्म इतने बड़े थे, परंतु मैंने प्रतिज्ञा की कि 'शिखंडी से युद्ध नहीं करूंगा', यह भाव लिये बैठे थे। सेनापति के जीवन में व्यक्तिगत प्रतिज्ञा का क्या महत्त्व? वहां तो सेनापति के कर्तव्य का महत्त्व है।

अर्जुन भी कह सकता था कि शिखंडी के पीछे से बाण चलाना उसके योग्य नहीं। संसार के लोग जाने क्या कहेंगे। यह सब अर्जुन के नाम पर कलंक होगा। परन्तु अर्जुन ने समाज का, समष्टि का, अपने पूरे पक्ष का विचार किया; और भीष्म पितामह ने 'मैं' का विचार किया। उनके सामने सेनापति की जिम्मेदारी नहीं, भीष्म पितामह की प्रतिज्ञा ही महत्त्व की थी।

द्रोणाचार्य को पुत्र का मोह था। सेनापति पुत्र का मोह लेकर चलेगा तो वह लड़ाई नहीं लड़ सकेगा। पुत्र की मृत्यु का पता चलते ही वे शस्त्र छोड़ बैठे। दूसरी ओर युधिष्ठिर, जो जीवन में कभी भी झूठ नहीं बोले थे, झूठ बोले। उन्होंने यह चिंता नहीं की कि दुनिया मुझे क्या कहेगी। समष्टि की मांग, भगवान कृष्ण के आदेश की खातिर व्यक्तिगत कीर्ति की उन्होंने चिंता नहीं की।

कर्ण के पास ऐसे कवच और कुंडल थे, जिनके रहते उसका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता था। ये उसे सूर्य ने दिये थे। इन्हें मांगने के लिए इंद्र ब्राह्मण का रूप धरकर कर्ण के पास गये। सूर्य ने कर्ण को इस प्रकार के छल से आगाह कर दिया था, परन्तु कर्ण ने कवच और कुंडल ब्राह्मण इंद्र को दे दिये। कारण, कर्ण ने समझा कि मैं दानवीर हूँ, मुझसे कोई मांगे और मैं न दूँ, यह तो लज्जा की बात होगी। वह दानवीर कर्ण तो हो गया, पर जिस पक्ष के लिए वह खड़ा था, उसका भला नहीं कर पाया।

परंतु देवराज इंद्र ने ब्राह्मण के रूप में भीख मांगी। उन्होंने धर्म-कार्य के लिए व्यक्तिगत लोकापवाद की चिंता नहीं की। कुंती ने कर्ण को अपने कौमार्य की संतान कहकर स्वयं कलंक मोल लिया। वह न कहती तो किसी को पता भी नहीं चलता कि कर्ण उसका बेटा है। परंतु उसके सामने समाज का ध्येय था। वह कर्ण से अर्जुन के अतिरिक्त शेष सब पुत्रों के लिए अभयदान लेकर आयी।

भगवान कृष्ण ने भी प्रतिज्ञा की थी कि शस्त्र नहीं उठाऊंगा, पर भीष्म के मुकाबले शस्त्र उठाने में उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा की चिंता नहीं की।

कौरव-पक्ष में एक-से-एक महारथी थे, पर उनमें कमी यह थी कि हर व्यक्ति मिलकर समूह नहीं था, समाज नहीं था। उनके अंदर कोई समष्टि-भाव नहीं था। सब अलग-अलग थे। हरेक को अपने नाम की चिंता थी।

पांडवों में सब मिलकर एक थे। भगवान कृष्ण को सबने नेता बनाया था। उनकी जो आज्ञा हुई, उसी को मानकर चले; किसी ने अपने नाम की चिंता नहीं की। भगवान कृष्ण ने जो भी कहा, सभी ने किया। किसी ने झूठ बोला, किसी ने युद्ध के नियमों का उल्लंघन किया, किसी ने कर्ण से भीख मांगी, किसी ने भीष्म से उनकी मृत्यु का रहस्य भी पूछा। वहां सभी एकजुट होकर कार्य करने वाले थे। वे सभी समष्टिवादी थे।

वास्तव में समष्टिवाद ही धर्म है, राष्ट्रवाद ही धर्म है।



(पृष्ठ 21 का शेष अंश)

अपनी माताजी की तीर्थयात्रा की इच्छा पूर्ण करने हेतु वे अपने निर्बल स्वास्थ्य के बावजूद भी अपने कुछ साथियों के साथ उन्हें पूर्वी बंगाल व आसाम के तीर्थ स्थलों की यात्रा हेतु ले गए। ढाका, कामाख्या पीठ, गुवाहाटी व शिलांग की यात्रा उपरान्त वे बेलूर मठ लौट आए। उनकी दमा व मधुमेह की बीमारी काफी बढ़ चुकी थी। शरीर लगातार गिरता जा रहा था, पैरों में भारी सूजन आ गई थी, नमक व जल का सेवन बंद किया जा चुका था। उन्हें अपने महाप्रयाण का आभास हो गया था। 4 जुलाई 1902 की रात्रि 9 बजकर 10 मिनट पर उन्होंने दो दीर्घ श्वास लीं और उनके प्राण अनन्त में लीन हो गए।

वर्ष 1886 से 1902 तक 16 वर्ष स्वामी विवेकानन्द ने सन्यासी के रूप में जीवन व्यतीत किया जिसमें लगभग 5 वर्ष विदेशों में यात्रा पर रहे तथा 5 वर्ष से अधिक की अवधि में देश में घूम घूम कर जनसाधारण में चेतना जागृत की। इस प्रकार एक वास्तविक परिव्राजक के रूप में उन्होंने 16 वर्ष की सन्यासावधि में 10 वर्ष से अधिक का समय व्यतीत किया जितना कदाचित किसी अन्य संन्यासी का नहीं है। अतः उनको भारत का एक अग्रणी परिव्राजक सन्यासी कहा जाना उपयुक्त होगा।



कार्टूनिस्ट विदूषक नहीं होता

- आर. के. लक्ष्मण

कार्टून कला करीब एक शताब्दी पूर्व इंग्लैंड से भारत में आयी थी। हालांकि काव्य, चित्रकारी, नक्काशी और स्थापत्य जैसी अन्य कलाएं देश में कई शताब्दियों से जड़ें जमायी हुई थीं, लेकिन रेखांकित व्यंग्य और हास्य की विद्या गैरहाजिर थी। यूं लोकगीतों और कविताओं में तल्खी और व्यंग्य हुआ करता था, जो राजे-महाराजों और आदमी की कमजोरियों को अपना लक्ष्य बनाता था। लेकिन ऐसे किस्से और कविताएं महज बीरबल और तेनालीराम जैसे दरबारी विदूषकों के इर्द-गिर्द ही घूमकर ठहर जाते थे।

वैसे भी कार्टूनिस्ट की तुलना बीरबल या तेनालीराम जैसे दरबारी मसखरों से नहीं की जा सकती। एक प्रजातांत्रिक ढांचे में उसकी भूमिका काफी बदली हुई है। इस नये माहौल में उसका काम होता है अपनी अभिव्यक्ति के अधिकार का प्रयोग करते हुए व्यंग्य करना। यानी बीरबल या तेनालीराम की तरह राजा की तलवार के नीचे रहकर डरते हुए नहीं, अपितु अपने जन्मसिद्ध अधिकार की तरह व्यंग्य करना। उसे अधिकार है आलोचना का, मजाक उड़ाने का, भर्त्सना व शिकायत का और प्रशासन और नेताओं के कामकाज में विसंगतियां दिखाने का। कार्टूनों के जरिए। हास्य चित्रों के जरिए।

अंग्रेजों के राज में प्रेस पूरी तरह आजाद नहीं था। सम्पादकीय टिप्पणियां और कार्टून तब केवल बालविवाह और दहेज जैसी कुरीतियों की आलोचना या समाज सुधारकों की प्रशंसा से आगे बढ़ने का साहस नहीं जुटा पाते थे। राजनीतिक मामलों पर अधिकांश पत्र-पत्रिकाएं चुप्पी साधे रहती थीं। लेकिन कुछ वर्षों बाद भारतीय कार्टूनिस्टों ने राजनीतिक मामलों में डरते-डरते राह बनानी शुरू की। लेकिन उन्होंने सिर्फ प्रतीकों पर हमला किया, जैसे जॉन बुल, जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद का प्रतीक है। उस दौर में गुलाम भारत को एक पीड़ित भारतीय महिला के रूप में चित्रित किया जाता था। यह महिला 'भारतमाता' थी। फिर जैसे-जैसे भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन जोर पकड़ता गया, कार्टूनिस्टों में आत्मविश्वास बढ़ने लगा। प्रतीकों के बजाय अब वे किरदारों पर हमला करने लगे। वायसराय, गवर्नर और नेता, सभी उनकी तूलिका की चपेट में आने लगे।

अंग्रेजों के जाने के बाद प्रेस की आजादी को खास अहमियत दी गयी, क्योंकि लोकतांत्रिक संस्थाओं की कार्यप्रणाली पर अंकुश रखने में इसकी एक महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह सब इंतजाम करने के बाद नेतागण शाश्वस्त होकर बैठ गये, एक शांतिपूर्ण और प्रगतिशील भविष्य की प्रतीक्षा में।

लेकिन ये सपने, सपने ही रह गये, क्योंकि अगर वे साकार हो जाते तो व्यंग्यकारों और कार्टूनिस्टों की प्रजाति बहुत पहले ही लुप्त हो जाती। कार्टूनिस्टों के भाग्य से शासक वर्ग और शासित वर्ग दोनों ने न सुधरने की कसम खा ली और कार्टूनिस्टों को बराबर काम मिलता रहा।

हमारे नेताओं ने राजकीय कार्यशैली का एक नया नमूना जनता के सामने पेश किया। ऐसा नमूना जिससे आम आदमी नावाकिफ था। राजनेताओं से जुड़ी खबरों में अब उनकी विचारधारा या सर्वहारा वर्ग के लिए बनायी गयी योजनाओं का उल्लेख नहीं होता था। बल्कि अब ये खबरें नेताओं की आपसी खींचतानियों, दल बदलने की सरगर्मियों और अंदरूनी बाहरी झड़पों की दास्तान बनकर रह गयी। नतीजतन सीमित प्रतिभा वाले कार्टूनिस्ट भी बिना ज्यादा मेहनत किये फलने-फूलने लगे। जिस मुल्क में एक सदी पहले कार्टूनिस्ट दूढ़े नहीं मिलते थे, वहां अब तरह-तरह के कार्टूनिस्ट मिल जाते हैं-अच्छे भी और बुरे भी।

जैसे-जैसे मैं देश की राजनीतिक हलचलों को समझने और उन पर टिप्पणी करने में व्यस्त होता गया, मुझे एक ऐसे कार्टूनी किरदार की जरूरत महसूस होने लगी जो एक आम भारतीय नागरिक का अक्स लिये हुए हो। भारत जैसे मुल्क में, जहां पहनावे, भाषा और नजरिये में इतनी विविधता है, यह मुश्किल खासतौर पर सामने आती है।

तो इतने सारे लिबासों, किरदारों और आदतों से भरे भारतीय समाज के आम आदमी को दरसाने वाला एक कार्टून मैं कहां से लाता? यह सचमुच मुश्किल था। शुरू में अलग-अलग चित्रों में अलग-अलग किस्म के कार्टूनी चेहरे सामने रखता था। मगर बाद में मैं कुछ खास चेहरों से काम-चलाने लगा। पाठकों ने भी इन चेहरों को देश के प्रतिनिधि चेहरों की तरह स्वीकार कर लिया। लेकिन एक वक्त ऐसा आया जब मैंने अपने 'आम आदमी' को हासिल कर लिया। यह एक अंधेड़ आदमी था। चेक वाला बंद गले का कोट पहने हुए, जिसके सिर पर सफेद बालों का एक आध गुच्छा बचा है और जिसकी नाक के ऊपर एक भारी-सा चश्मा है। यह आदमी हर जगह मौजूद होता है। हैरान और हक्का-बक्का।

कर्म और लक्ष्य अर्थात् गेंद और गोल

- प्रमथ्यु यायावर

‘गेंद और गोल’ जैसा कि कथा शीर्षक से स्पष्ट है, यह लघु कथा दो छोरों, दो धाराओं, दो वस्तुओं एवं दो ध्रुवों का चित्रण करती है, जो दो होकर भी वस्तुतः एक-दूसरे के पूरक हैं। ‘गेंद’ यहां कर्म का प्रतिनिधि है एवं ‘गोल’ लक्ष्य का। ‘गेंद और गोल’ निःसंदेह हमारी भाषा में लिखी गई अभी तक की एक सर्वश्रेष्ठ एवं अनोखी कृति है, एवं इसकी तुलना पूरे हिंदी साहित्य में केवल रेणु की अद्भुत रचना नित्य-लीला से ही की जा सकती है।

कहना न होगा कि गीता संसार की न केवल श्रेष्ठतम काव्यकृति है, वरन् यह विश्व का सबसे चर्चित, लोकप्रिय, सर्वग्राह्य एवं विशिष्ट ग्रंथ है। इसका प्रभाव ऐसा है मानो गागर में सागर ने प्रवेश किया हो, जैसे नर में नारायण पूरे ऐश्वर्य के साथ प्रवेश कर गए हों। गीता के, जैसा कि हम सब जानते हैं, कई आयाम हैं, यह ग्रंथ सामान्य धर्म-प्रिय जन-मानस को भी उतना ही प्रिय है, जितना किसी उद्भट विद्वान को। और कहना न होगा कि वैष्णवों के तो प्राण ही गीता में बसते हैं। गीता ने न केवल वैष्णव मन को, बल्कि अन्य विभिन्न मत-दर्शनों, जैसे शैव, शाक्त, योग इत्यादि को भी सहसा प्रभावित किया है, और गीता सबमें समाहित है।

गीता की कई व्याख्याएं भी हुई हैं। आदिगुरु शंकर ने अगर अपने अद्वैत दर्शन के आधार पर गीता की व्याख्या कर इसमें निवृत्ति को ढूंढा है या ऐसा कहें कि सन्यास धर्म की स्थापना की है तो अन्य आचार्यों जैसे रामानुज, मध्व, निंबार्क, बल्लभ एवं सायन इत्यादि ने कर्म में प्रवृत्ति को ही गीता का परम उद्देश्य बतलाया है। इन सभी ने अपने विभिन्न मतों के अनुसार ही गीता की व्याख्या की है। आधुनिक विद्वानों में गांधी एवं तिलक ने भी कर्मवाद को ही गीता का सार माना है। अब यहां एक प्रश्न यह उठता है कि वाकई गीता का वास्तविक स्वरूप क्या है? उत्तर रूप में यहां कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि जिस प्रकार हम ‘हरि अनंत हरि कथा अनंता’ में पूर्ण आस्था रखते हैं, उसी प्रकार गीता रूपी समुद्र की ये नदी रूपी समस्त व्याख्याएं सत्य हैं।

गीता का दर्शन के अलावा, साहित्य के क्षेत्र में भी गहरा प्रभाव रहा है। हिंदी के महाकवि सूर एवं तुलसी हों, मैथिलीशरण या निराला, प्रेमचंद हों या रेणु, नामवर सिंह या रामविलास शर्मा, गीता ने सभी की लेखनी को प्रभावित किया है। इसी कड़ी

में एक और नाम आता है राधाकृष्ण का, जो हिंदी साहित्य रूपी रत्नगर्भ में विस्मृत, झारखंड मानस पटल पर अदृश्य, किन्तु अनमोल मोती रहे हैं। जैसा कि हम उनके जीवन परिचय में पढ़ेंगे, इनका संपूर्ण जीवन ही भीषण संघर्षमय रहा, परन्तु आजीवन वह कर्मरत रहे एवं इसी अद्भुत कर्मवाद को आत्मसात कर उन्होंने एक विचित्र कथा-संसार की उत्तम रचना की।

गीता ने उनके कथा-संसार को कितना प्रभावित किया, इसका सबसे अच्छा उदाहरण है, उनकी रचना गेंद और गोल। यह विस्तार में अल्प होते हुए भी अर्थवत्ता रूपी गहराई में अति विस्तृत है। निःसंदेह यह कथा श्रीनारायण उपदेशित गीता से प्रभावित है, आगे हम इसी प्रभाव को राधाकृष्ण की जीवन मान्यता से जोड़कर चर्चा करेंगे।

‘गेंद और गोल’ जैसा कि कथा शीर्षक से स्पष्ट है, यह लघु कथा दो छोरों, दो धाराओं, दो वस्तुओं एवं दो ध्रुवों का चित्रण करती है, जो दो होकर भी वस्तुतः एक-दूसरे के पूरक हैं। ‘गेंद’ यहां कर्म का प्रतिनिधि है एवं ‘गोल’ लक्ष्य का। कथा में मुख्यतः पात्र भी दो ही हैं, दयाल-जो पढ़ने में सुजान परंतु लोकप्रियता में कम एवं श्रीश जो पढ़ने में तो साधारण, परंतु फुटबाल के खेल में पारंगत एवं लोकप्रिय। इसकी लोकप्रियता ने दयाल के मन में उसके प्रति ईर्ष्या को जन्म दिया है एवं दयाल हीन भावना से ग्रस्त हो श्रीश से भीतर-भीतर कुदृता रहता है। आइए देखते हैं कि दयाल कथा के शुरू में श्रीश के प्रति क्या विचार रखता है।

“...ज्यादा पढ़ने से क्या होता है?...श्रीश को देखो। पढ़ना-लिखना साढ़े बाईस। बस, खेल और खेला...सोचा था कि इसका ऐडमिशन भी कॉलेज में नहीं हो सकेगा। मगर यहां तो फर्स्ट डिवीजन वाले पड़े रहे और थर्ड डिवीजन वाले श्रीश का नाम सबसे पहले लिख लिया गया।”

दयाल को श्रीश की लोकप्रियता से शिकायत है, उसके भाग्य से ईर्ष्या है। “श्रीश के चारों ओर भीड़ लगी रहती है। लड़कियां उस पर ध्यान देती हैं।” लेकिन बेचारे दयाल की खैर लेने वाले कोई नहीं। दयाल लोकप्रिय बने तो कैसे, श्रीश सा भाग्य पाये तो कैसे? अब दयाल इस समस्या का सहज समाधान यह ढूंढता है कि वो भी फुटबाल खिलाड़ी बन जाए, श्रीश से भी बढ़कर, तब लोकप्रियता उसके चरणों में विश्राम करेगी। परंतु ओह निर्दय निष्ठुर भाग्य क्यों तू दयाल को चाहेगा, बेचारा यहां भी फिसड्डी, गोया जनाब का नाम भी कॉलेज फुटबाल टीम में नहीं। अब हारकर दयाल श्रीश से ही उसकी लोकप्रियता का राज पूछता है, और यहां श्रीश का लघु

उत्तर ही कथा का सार है एवं लेखक की समस्त लेखनी, समस्त विचार इसी बिंदु पर मानों केंद्रित हुए हैं, श्रीश कहता है-“खेलने में भी तुम मुझसे आगे हो; लेकिन तुम्हारा ध्यान केवल गोल-पोस्ट की ओर रहता है और मैं हमेशा गेंद को ही अपना लक्ष्य मानता हूँ।”

कथा यहीं पर, दयाल की मुस्कुराहट के साथ, जो टूटकर फिर उसके चेहरे पर जुटती हुई सी प्रगट हुई, के साथ समाप्त होती है। कहना न होगा कि श्रीश सफल व्यक्ति इसलिए है क्योंकि उसने न केवल अपने जीवन-दर्शन को कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन् इस गीता सूत्र को हृदयस्थ कर, इसी पर स्थापित किया है, वरन् अपने जीवन में क्रियान्वित भी किया है। श्रीश जैसे व्यक्तियों में नहीं जो कर्म करते समय उससे जुड़ी सफलता-असफलता की चिंता करे और इसमें लीन रहे, वह कर्म को सिर्फ कर्म के लिए, उसी को लक्ष्य मान, अनासक्त हो करता है। अब यहां पर एक प्रश्न प्रासंगिक हो उठता है कि क्या कर्म को सिर्फ कर्म के प्रयोजन से किया जा सकता है? कथा लेखक राधाकृष्ण की इस विषय में पूर्ण मान्यता है कि ऐसा अवश्य हो सकता है। राधाकृष्ण मानते हैं कि कर्म करते समय लक्ष्य या फल की कामना अनुचित नहीं है, परंतु ध्यान केवल कर्म पर ही केंद्रित रखना चाहिए, वरना व्यक्ति जीवन में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता है।

अब इसी कथा के दोनों पात्रों को लें, दयाल एक ऐसा व्यक्ति है जो जीवन में लोकप्रियता के लिए व्याकुल है, वही उसके जीवन का 'गोल' या यूँ कहें कि परम लक्ष्य है। जब वह देखता है कि पढ़ने में अच्छा होने के बावजूद भी वह लोकप्रिय नहीं हो पाया, तो वह खेलने का विचार करता है, परंतु यहां भी परम लक्ष्य अर्थात् लोकप्रियता के उसको दर्शन नहीं होते। कहना न होगा कि वह लोकप्रिय नहीं है क्योंकि उसकी चेतना अपना पूरा ध्यान अपने कर्म (यानी कि गेंद) पर न लगाकर सदा लक्ष्य चिंतन करती है, अगर वह सारा ध्यान अपने कर्म पर लगाएँ और लक्ष्य की चिन्ता छोड़ अनासक्त होकर कर्मरत हो जाए तो वह लोकप्रिय भी अवश्य होगा।

बस राधाकृष्ण अपनी इसी विचारधारा की पुष्टि के लिए श्रीश का उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। अगर हम समझते हैं कि श्रीश के चरित्र के बहाने उन्होंने ज्ञानियों का मजाक उड़ाया है तो यह गलत होगा, वस्तुतः श्रीश, श्रीकृष्ण वाचित गीता के कर्मवाद की ही सचल एवं उत्तम प्रतिमूर्ति है। यहां पाठकों को याद दिलाना उचित होगा कि राधाकृष्ण ने कर्मवाद की प्रतिमूर्ति के रूप में जिस पात्र को चुना उसका नामकरण किया श्रीश, अर्थात् विष्णु या कृष्ण। हिंदी साहित्य में जिन अविस्मरणीय

पात्रों को हम पाते हैं, निश्चय ही श्रीश का स्थान वहां हम निश्चित पाएंगे। श्रीश एक छोटा किंतु सर्वत्र जीवंत पात्र है, वह कर्मवाद की जीवित प्रतिमूर्ति है, अपने निर्माण में सरल किंतु गुणों में अनोखा पात्र है, शायद संपूर्ण हिंदी साहित्य में दुर्लभ ऐसा दूसरा कोई पात्र नहीं जो 'गेंद' को ही अपना 'गोल' माने। बहुत बड़ा फुटबालर बनना, नामी व्यक्ति बनना, यह श्रीश का लक्ष्य नहीं, अपितु वह तो अपने खेल को ही अपना लक्ष्य मान अनासक्त हो कर्म किए जा रहा है। लोकप्रियता मिले तो ठीक, न मिले तो हरि इच्छा। कहना न होगा वह लक्ष्य की चिंता से सर्वथा मुक्त है, उसका कर्म उसका पाश नहीं, अपितु उसकी मुक्ति है।

अंत में हम यह कह सकते हैं कि गीता का कर्मवाद संसार का सर्वश्रेष्ठ सिद्धांत है। राधाकृष्ण इस कहानी के माध्यम से इसी सिद्धांत को ही वस्तुतः क्रियान्वित करते हैं, अक्षरशः प्रतिपादित करते हैं। 'गेंद और गोल' निःसंदेह हमारी भाषा में लिखी गई अभी तक की एक सर्वश्रेष्ठ एवं अनोखी कृति है, एवं इसकी तुलना पूरे हिंदी साहित्य में केवल रेणु की अद्भुत रचना नित्य-लीला से ही की जा सकती है, सिद्धांत के रूप में नहीं तो रचनात्मकता में ही सही। नित्य-लीला में भी मायापति भगवान की ही लीला को अद्भुत तरीके के साथ प्रस्तुत किया गया है, एवं गेंद और गोल के समान इसमें भी गहरी अर्थवत्ता है जो उन्हीं सुधी पाठकों के लिए है, जो अर्थ के समुद्र में गहरे तैरना चाहते हैं।

लघुकथा

गेंद और गोल

— राधाकृष्ण

...ज्यादा पढ़ने से क्या होता है? पढ़ने की अपेक्षा पक्का खिलाड़ी होना ही अच्छा है। श्रीश को देखो। पढ़ना-लिखना साढ़े बाइस। बस, खेल और खेल। जहां मौका मिला कि मैदान में जमे हैं। गेंद पैरों के नीचे आई नहीं कि बिरनी की तरह नाचने लगा। इधर आ रहा है और उधर जा रहा है। नतीजा हुआ कि कम नंबरों से परीक्षा पास की। सोचा था कि इसका एडमिशन भी कॉलेज में नहीं हो सकेगा। मगर यहां तो फर्स्ट डिवीजनवाले पड़े रहे और थर्ड डिवीजन वाले श्रीश का नाम सबसे पहले लिख लिया गया। वह फुटबॉल का खिलाड़ी जो है।

दयाल अपने बारे में सोचता।...मैं बोर्ड में अक्वल आया, लेकिन मेरी ओर कोई देखता ही नहीं। उधर श्रीश के आगे-पीछे भीड़ लगी रहती है। लड़कियां उसकी ओर

गौर से देखती हैं और आपस में बातें करती हैं। मैं पुस्तकालय में बैठता हूँ, वाद-विवाद में भाग लेता हूँ, लेकिन कोई मुझसे बात करने वाला भी नहीं मिलता। उधर फुटबॉल के मैदान में श्रीश के आगे-पीछे भीड़ जम जाती है।

यही सब दयाल सोचा करता और मन ही मन कुढ़ता।

उस दिन जब प्रिंसिपल ने श्रीश के सम्मान में अपने यहां चाय की पार्टी दी तो उसके भाग्य से दयाल को पूरी ईर्ष्या हो गई। उसने सोचा कि अब मैं भी गेंद खेलूंगा। साधना से सब-कुछ हो सकता है। मेहनत के साथ लगूंगा तो सब ठीक हो जाएगा।

और अब वह भी फुटबॉल के मैदान में दिखलाई देने लगा। अब वह भी खेलता और खूब खेलता।

उसे आशा थी कि मैं इस बार कॉलेज की टीम में आ जाऊंगा, लेकिन उसे निराशा हुई। श्रीश का नाम सबसे ऊपर था और उस लिस्ट में दयाल का नाम तक नहीं था।

वह सिर झुकाए हुए बैठा था। चाहता था कि चेहरे पर वेदना प्रकट नहीं हो सके। वह झूठमूठ मुस्कुराना चाहता था और असफल हो रहा था। इसी समय श्रीश वहां दिखाई पड़ा। उसका उल्लास से चमकता चेहरा देखकर दयाल जल उठा। बोला-“श्रीश, तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ।”

“कहो !”-श्रीश ने कहा।

दयाल ने पूछा-“तुम्हें फुटबॉल में इतनी बड़ी सफलता मिली है, मगर मुझे क्यों नहीं मिल पाती?”

श्रीश ने कहा-“खेलने में भी तुम मुझसे आगे हो; लेकिन तुम्हारा ध्यान केवल गोल-पोस्ट की ओर रहता है और मैं हमेशा गेंद को ही अपना लक्ष्य मानता हूँ।”

दयाल के होठों की टूटती मुस्कराहट जुटती हुई सी दिखलाई पड़ी।



कैसे पहचानें सौभाग्य के पल ?

सौभाग्य और दुर्भाग्य में मौलिक अंतर होता है। सौभाग्य चुपके से दबे पांव आता है और जीवन के दरवाजे पर दस्तक देकर चला जाता है। जो इस अवसर को पहचानता है, जागरूक एवं सचेत होता है, वही इसका लाभ ले पाता है, जबकि दुर्भाग्य दरवाजे पर खड़ा होकर तब तक जबरदस्त दस्तक देता रहता है, जब तक कि दरवाजा खुल न जाए। सामान्य रूप से इस दस्तक से भयभीत होकर या जाने-अनजाने हम दरवाजा खोलकर दुर्भाग्य को अंदर आने का अवसर देते हैं, पर जब दुर्भाग्य एक बार प्रवेश कर जाता है तो यह पूरी क्षमता के साथ अपना प्रभाव दिखाता है और नियत समय तक अटल अविचल बना रहता है, हिलता-डुलता तक नहीं और हमारे जीवन को तहस-नहस करता रहता है।

सौभाग्य चुपके से आता है और दुर्भाग्य सबको बता-जताकर आता है। हां, यदि सौभाग्य अति प्रबल हो तो यह भी द्वार-देहरी पर तब तक खड़ा रहता है, जब तक कि उसे प्रवेश न दे दिया जाए। यह स्थिति विरल होती है। अति पुण्यवानों के जीवन में ऐसा महान अवसर आता है। उन्हें इस अवसर को न चाहने पर भी स्वीकारना पड़ता है, परंतु अगाध तप से आपूरित तपस्वी सौभाग्य को भी चाहे तो प्रवेश करने देता है और अनिच्छुक होने पर इसे किसी योग्य सत्पात्र में रूपांतरित भी कर सकता है। तपस्वी के लिए यह सामान्य बात है, क्योंकि वह सौभाग्य को अपनी तपस्या के लिए बाधक मानता है, इसलिए ऐसा करता है।

सौभाग्य आखिर क्यों चुपके से आता और चला जाता है, इसका कारण है कि सौभाग्य सम्मान एवं आदर की अपेक्षा करता है। जो सुख-सौभाग्य को जितना आदर एवं मान देता है, उसके जीवन में वह उतना ही गहराई से अपना प्रभाव दिखाता है। यदि जीवन में सौभाग्य का उदय पद एवं प्रतिष्ठा के रूप में हुआ है तो उसे बनाए रखने के लिए सदा यत्न करना चाहिए, अन्यथा यह समय से पूर्व ही विदा हो सकता है या फिर अपना संपूर्ण प्रभाव दिखाने से वंचित हो सकता है। सौभाग्य कई रूपों में आता है। यह हमारे भाग्य एवं पुण्य के रूप में आता है। कभी-कभी किसी को अचानक अपार संपदा की प्राप्ति हो जाती है और कुछ ही समय में रंक से राजा बन जाता है। अपार वैभव का स्वामी बन जाता है। संपदा मिलने वाले अवसर को यदि ठीक से पहचाना नहीं जा सका तो यह अवसर हाथ से फिसल भी सकता है; क्योंकि यह सुअवसर कुछ ही पल के लिए आता है।

प्राप्त वैभव एवं ऐश्वर्य का उपयोग एवं उपभोग निजी विवेक पर निर्भर करता है। इसका सदुपयोग एवं सार्थक प्रयोग करने वाले इसको द्विगुणित बहुगुणित कर सकते हैं, परन्तु दुरुपयोग करने वाले समय से पूर्व ही संचित कोश को रिक्त कर देते हैं और दुर्भाग्य का रोना रोते हैं। सौभाग्य तो उस बीज के समान होता है, जिसको बोते रहने से यह बढ़ता रहता है। पुण्यकार्य में, परमार्थ में, सेवा-कार्यों में इसको नियोजित करने पर यह भले ही तात्कालिक नुकसान के रूप में प्रतीत हो, पर ऐसा होता नहीं है, यह तो सौगुना हजार गुना होकर वापस लौट आता है।

श्री जुगलकिशोर बिड़ला के जीवन में एक अवसर आया था, जब उनकी आर्थिक स्थिति अत्यंत दयनीय एवं शोचनीय थी, परन्तु इतनी विपन्नता एवं अभाव की स्थिति में भी वे एक महात्मा को नित्य दो बार अपने हाथों से बड़े प्रेम से भोजन कराते थे। साधुसेवा के इस अवसर को उन्होंने बड़े यत्नपूर्वक सहेज लिया था। स्वयं भूखे रहकर भी वे उन्हें भोजन अवश्य कराते थे। ऐसा एक भी दिन नहीं आया कि उन साधु को भोजन कराए बगैर स्वयं अन्न ग्रहण किया हो। जब हम किसी के प्रति भावनाओं से जुड़ जाते हैं, आंतरिक रूप से सम्मान एवं श्रद्धा रखते हैं तो इसका निर्वाह कठिन नहीं होता है, दुर्लभ परिस्थितियों में दैव योग से वह संपन्न होता रहता है। बिड़ला जी के साथ भी यही था। वे उन्हें बड़े प्रेम से भोजन कराते थे, क्योंकि सेवा उनका व्रत था और यही वजह थी कि साधुसेवा के पश्चात वे राष्ट्रसेवा में संलग्न हो सके थे; क्योंकि सेवाधर्म उनकी वृत्तियों में समाहित था।

एक बार बिड़ला जी थके-हारे काम से आए थे। आंधी-तूफान के साथ तेज बारिश हो रही थी। भूख भी लग रही थी। खाना परोसा गया। जैसे ही वे रोटी का टुकड़ा अपने मुंह में लेने लगे तो उन्हें उस साधु की याद आई, जिसको खिलाए बगैर वे अन्न के एक दाने को हाथ भी नहीं लगाते थे। आज यह कैसा अनर्थ हो गया, वे खाना छोड़कर और साधु का भोजन लेकर बेसब्री से दौड़ पड़े। साधु सारी स्थिति से अवगत थे। साधु ने कहा-“तू आज अपना खाना छोड़कर मुझे खिलाने आया है। इसलिए आज मैं तुझे आशीर्वाद देता हूँ कि तेरे पास संपदा एवं संपत्ति की कोई कमी नहीं होगी।” बिड़ला जी ने इस दिव्य अवसर को हाथ से जाने नहीं दिया और महात्मा की कृपा से अथाह चल-अचल संपदा के स्वामी बने। सौभाग्य कृपा के रूप में भी बरस पड़ता है, परन्तु उसके लायक स्वयं को बनाना पड़ता है।

प्रबल सौभाग्य द्वार की देहरी में तब तक प्रतीक्षारत रहता है, जब तक कि उसे ग्रहण न कर लिया जाए। चंद्रगुप्त के पास ऐसा ही प्रबल सौभाग्य उपस्थित हुआ था

और वह सौभाग्य उनको अखंड भारत का चक्रवर्ती सम्राट बनाने तक अटल खड़ा रहा। ऐसा छत्रपति शिवाजी के साथ भी हुआ। उन्होंने मराठा राज्य की स्थापना की और सौभाग्य उनके चरणों में लोटता रहा। उन्होंने इस अवसर को भरपूर सम्मान दिया और वे ऐसे विरल सम्राटों में से एक थे, जिनका आध्यात्मिक जीवन बड़ा गहरा था, परन्तु सामान्य रूप से अवसर किसी की प्रतीक्षा नहीं करता है। अवसर की प्रतीक्षा करनी पड़ती है, उसकी पहचान करनी पड़ती है और जो ऐसा कर पाता है, उसके जीवन में सौभाग्य विविध रूपों में आता है।

दुर्भाग्य को आमंत्रण देने की आवश्यकता नहीं पड़ती है, बल्कि कह सकते हैं कि हम ही उसे आमंत्रित करते रहते हैं और वह हमारे जीवन में प्रवेश करने तक बेशरम की तरह इंतजार करता है। विवेकवान उसके लिए अपना द्वार बंद किए रहते हैं, परन्तु जिसके पास समझ का अभाव होता है, उनका द्वार इसके लिए खुला रहता है। समझ का अभाव ही तो व्यक्ति को अहंकारी बनाता है और अहंकारी व्यक्ति सतत दुर्भाग्य को साथ लेकर चलता है; क्योंकि वह सौभाग्य के सुअवसर के लिए अपने दरवाजे पर मोटी सांकल चढ़ा रखता है। दुर्भाग्य अत्यंत घातक होता है। यह मायावी होता है और इसके भी अनेक रूप होते हैं, जो विभिन्न प्रकार के रोग, शोक, दरिद्रता, अभाव आदि रूपों में प्रकट होते हैं। दुर्भाग्य नानाविध कष्ट एवं पीड़ा प्रदान करता है, जीवन को संकट में डालता है, घोर आर्थिक समस्या पैदा करता है, समाज में अपमान एवं तिरस्कार का माहौल रचता है। यह उन षड्यंत्रकारियों का साथ देता है, जो केवल व्यक्ति के लिए घोर अभिशाप के समान होते हैं।

सौभाग्य और दुर्भाग्य की परख और पहचान केवल बुद्धि एवं विवेक के द्वारा ही संभव है। एक चुपके से आकर चला जाता है और दूसरा अपने आने की आहट ही नहीं देता, परन्तु आ धमकने के बाद अंत तक धमाचौकड़ी मचाता रहता है। दुर्भाग्य के प्रवेश करने के बाद की स्थिति को भोगने वाला ही जान सकता है। अतः हमें शांत एवं स्थिर होकर सुअवसर का लाभ लेना चाहिए एवं दुर्भाग्य के लिए सारे रास्ते बंद कर देने चाहिए। हालांकि ऐसा कर पाना अत्यंत कठिन है, लेकिन प्रभु की कृपा से ऐसा संभव हो सकता है। सतत सेवा एवं पुण्यकर्म करते रहने से अनेक सुअवसर आते हैं और दुर्भाग्य का जाल कटता रहता है। अतः जीवन में सौभाग्य की प्राप्ति एवं दुर्भाग्य को टालने के लिए सतत सदाचरण करते रहना चाहिए।

संकलित



सुरक्षा के उपाय

- गंगा शरण शर्मा

छोटा शहर हो या मेट्रो, आज महिलाएं जिन्दगी के हर क्षेत्र में अपनी काबलियत और हुनर के कीर्तिमान गढ़ने में लगी हैं। कठिन से कठिन जिम्मेदारी को निभाती वे आत्मविश्वास और चतुरता के साथ कई मान्यताओं को गलत सिद्ध कर चुकी हैं। अब वे घर की सजावट की वस्तु नहीं रहीं। लेकिन असीम क्षमताओं के बावजूद सुरक्षा के मामले में वे अब भी कमजोर पाई गयी हैं। महिलाओं के साथ होने वाले हादसों की फेहरिस्त दिनोंदिन लम्बी होती जा रही है-जैसे गले से चैन खींचना, पर्स या वैनैटी बैग झपटना, यौन-उत्पीड़न तथा छेड़छाड़ की घटना इत्यादि।

सुनसान सड़क हो या कार्यक्षेत्र, हादसे किसी न किसी रूप में दस्तक देते ही रहते हैं। इन हादसों से बचने के लिए कुछ विशेष सावधानियों एवं सतर्कता की जरूरत होती है। अनहोनी से निपटने तथा अपनी सुरक्षा का ख्याल महिलाओं को खुद रखना पड़ेगा। यदि संघर्ष जीवन का अनिवार्य तत्व है तो सजगता भी ऐसी चुनौतियों का हिस्सा है जो महिलाओं के आत्मविश्वास की ताकत को मजबूत करती है। डरने से नहीं, बल्कि मुसीबतों से लड़ने से ही आत्मनिर्भरता को संबल मिलता है।

अपनी आत्मरक्षा के लिए महिलाएं निम्न बातों पर विशेष ध्यान रख सकती हैं-

(क) स्वयं की सुरक्षा के लिए, अपने शहर के मार्शल-आर्ट सेंटर में ट्रेनिंग-कोर्स कर लें। इस कोर्स में अचानक होने वाले हमलों से बचने की ट्रेनिंग दी जाती है। अनहोनी से निपटने में ये गुरु मददगार सिद्ध हो सकते हैं। सुनसान रास्तों पर अचानक हुए वार से बचाने में ऐसी ट्रेनिंग महिलाओं को आत्म बल भी देती है।

(ख) बाजार या किसी समारोह में जाना हो तो बेशकीमत जेवरात पहनकर नहीं निकलें। अगर जरूरी हो तो चौकन्ना रहें। किसी मित्र की पार्टी में जाने से पहले घर के किसी सदस्य को अवश्य बता दें कि आप कहां जा रही हैं। पार्टी में समय का ध्यान रखें कि कितनी देर ठहरना है। ज्यादा रात हो किसी पहचान वाले के साथ ही लौटें।

(ग) आपात स्थिति को छोड़कर रात में कहीं भी अकेले सुनसान मार्ग पर जाने से बचें। 'शार्ट कट' समझकर सुनसान मार्ग का चयन कदापि न करें। भीड़भाड़ वाला लम्बा मार्ग 'शार्टकट' की अपेक्षा कहीं ज्यादा सुरक्षित होता है।

(घ) ऑटो या पर्सनल टैक्सी में बैठने के पूर्व उसका नम्बर जरूर देख लें। अकेली हों तो किसी अपरिचित को न लिफ्ट दें और न लें। थोड़ी सी सजगता आपको बड़ी अनहोनी से बचा सकती है। बेहतर हो कि ऑटो या टैक्सी उसके पड़ाव से ही लें अगर वह नजदीक हो तो।

(ङ) ट्रेन या बस पर चढ़ते वक्त ब्लेडमार और उचक्कों से सावधान रहें। याद रखें कि टिकट कटाने की कतार में महिला-पॉकेटमार भी हो सकती हैं। यात्रा के दौरान किसी अजनबी की दी हुई कोई चीज न खाएं, न पियें।

(च) बैग को हाथ में झुलाकर रखने से बेहतर है कंधे के हवाले करना। इससे दोनों हाथ स्वतंत्र रहेंगे अपराधी से निपटने में। बस या ऑटो का किराया तथा फुटकर पैसे पहले से ही निकालकर रख लें ताकि असावधान देखकर किसी को छिनैती का मौका न मिले। लेडीज सीट पर बैठना ज्यादा सुविधाजनक होता है।

(छ) कार्यालय से यथासम्भव रात होने से पहले निकलें। कामकाजी महिलाओं का कभी-कभार जरूरी काम के करण देर से लौटना सम्भव हो सकता है। ऐसी स्थिति में अनजान व्यक्ति के साथ घर पहुंचाने के लिए कहा जाए तो इंकार कर दें बल्कि कार्यालय से ही अपने सहकर्मियों के साथ घर जाने की चेष्टा करें।

(ज) अपने पास पुलिस-स्टेशन, पारिवारिक डॉक्टर तथा एंबुलेंस का फोन नम्बर रखें। इमरजेंसी कॉल एवं नम्बर से सजग-सावधान महिलाएं तुरन्त मदद की आशा कर सकती हैं। शोहदों, चोर-उचक्कों और लुटेरों से बचने के लिए ऐसी सावधानी जरूरी है।

(झ) अनजान स्थान की यात्रा से पूर्व उस जगह की पूरी जानकारी प्राप्त कर लें। मसलन कौन सा वाहन सुविधाजनक होगा, दूरी, रास्ता, माहौल और स्थल का विवरण आदि। अगर रास्ते में कोई पूछताछ की जरूरत पड़े तो आसपास के दुकान अथवा किसी बुजुर्ग से जानकारी ले लें।

(ञ) यात्रा में अपने पास हल्की टार्च, मोबाइल फोन, पहचान-पत्र तथा सुरक्षा से संबंधित उपकरण रखें ताकि संभावित खतरे का सामना होने पर, दूसरों से मदद ले सकें।

आप चाहे जितना भी हिम्मतवर आत्मविश्वासी क्यों न हों, पर घर तथा विशेषकर बाहर में सजग एवं सावधान रहना बहुत जरूरी है। तभी स्वयं अपनी और अपने सामान की सुरक्षा के प्रति आश्वस्त हो सकती हैं। □

औषधि विज्ञान के जनक-वैद्यराज चरक

- डा० एम०पी० गुप्ता

“जो चिकित्सक बीमार के शरीर में, ज्ञान और समझ रूपी दीपक के साथ प्रविष्ट होने में असमर्थ है, इलाज नहीं कर सकता। चिकित्सक को पहले वातावरण समेत सभी तथ्यों का अवलोकन करना चाहिए जो रोगी को प्रभावित कर रहे हों, तभी निदान सुझाना चाहिए। रोग के इलाज की अपेक्षा, उसकी रोकथाम के उपाय करना अधिक महत्वपूर्ण है।”

उपरोक्त शब्द महान भारतीय वैद्य चरक ने आज से कई शताब्दी पूर्व व्यक्त किए थे जिन्हें आज भी पूर्ण सत्य माना जाता है।

चरक के व्यक्तिगत जीवन के विषय में अधिक जानकारी नहीं है। एक मत के अनुसार तो चरक एक व्यक्ति न होकर एक उपाधि थी, जो ज्ञान की तलाश में विचरण करने वाले व्यक्तियों को दी गई थी जिन्होंने अग्निवेश द्वारा औषधि विज्ञान के सूत्रों का निरंतर विस्तार करते हुए, चरक-संहिता नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया। किन्तु एक अन्य मान्यता के अनुसार चरक संहिता के लेखक भारतीय इतिहास के एक प्रसिद्ध शासक कनिष्क के दरबारी चिकित्सक थे।

चरक संहिता को आयुर्वेद विद्या का संदर्भ ग्रन्थ कहा जाता है। इस पुस्तक में कुल 12 अध्याय हैं जो आठ भागों में विभक्त हैं। ये आठ भाग क्रमशः सूत्र स्थान, निदान स्थान, विज्ञान तथा, शरीर स्थान, इन्द्रिय स्थान, चिकित्सा स्थान, कल्प स्थान तथा सिद्धि स्थान नाम से हैं।

इस ग्रन्थ में रोग तथा उनके निदान से पूर्व, आयुर्वेद विज्ञान की विषय व्याख्या एवं चिकित्सक, रोगी, परिचारक तथा औषधियों के गुण दोषों की विवेचना की गई है। प्राकृतिक वनस्पतियों पशु-पक्षियों से प्राप्त होने वाले पदार्थों, धातुओं, विभिन्न प्रकार के अनाजों और बीजों, तेलों, दूधों, मूत्र आदि पदार्थों के औषधी गुणों का वर्णन किया गया है और उनसे औषधि तैयार करने की विधि बताई गई है। इसके अतिरिक्त भोजन की गुणवत्ता तथा उसकी सही मात्रा का भी प्रयोग बताया गया है।

चरक विश्व के प्रथम चिकित्सक थे जिन्होंने पाचन (Digestion) चय-अपचय (Metalolism) एवं शरीर की प्रतिरोधक क्षमता (Immunity) का ज्ञान विश्व को दिया

था। उन्होंने शरीर में विद्यमान तीन दोषों वायु, पित्त तथा कफ का भी प्रथम बार जिक्र किया और बताया कि इन तीनों के सही अनुपात में रहने से व्यक्ति नीरोग रहता है किन्तु यदि इन तीनों के बीच संतुलन बिगड़ जाता है तभी रोग की व्युत्पत्ति होती है। आज भी आयुर्वेद इसी सिद्धान्त पर टिका हुआ है।

चरक ने शरीर में होने वाले लगभग सभी रोगों का इलाज बताया है। ज्वर, खांसी जुकाम, रक्त विकार, फोड़े-फुंसी, कोढ़, पागलपन आदि सभी विकारों का निदान किया है। उन्हें शरीर विज्ञान (Genetics) के मूलभूत सिद्धान्तों का पूर्ण ज्ञान था। नवजात शिशु के लिंग निर्धारण में किन कारकों का योगदान होता है या किन कारणों से उनमें अपंगता आ सकती है, इसका पूरा विवरण उन्होंने दिया है।

चरक हृदय को शरीर का सबसे महत्वपूर्ण अंग मानते थे। उन के अनुसार हृदय पूरे शरीर में 13 शिराओं से जुड़ा हुआ है और प्रत्येक अंग को प्रभावित करता है। इन शिराओं के अतिरिक्त शरीर में अनेक अन्य नाड़ियाँ हैं, कुछ छोटी-कुछ बड़ी, जिनके द्वारा शरीर में पोषक तत्वों का वितरण तथा निस्तारण होता है। उन्होंने यह भी बताया कि इन शिराओं में अवरोध उत्पन्न होने से भी रोग होते हैं, अथवा अपंगता पनप सकती है।

आपने तेल तथा अनेक प्रकार के मरहमों का भी मालिश के लिए उपयोग किया है जिससे शरीर में स्फूर्ति पैदा होती है तथा अवयवों में सुदृढ़ता का विकास होता है। उन्होंने सही मात्रा में भोजन करने को आरोग्य होने का कारण बताया है। उन्हें मूत्र रोग (Diabetes) का भी ज्ञान था जिसे मधुर मूत्र (Sweet tasting urine) का नाम दिया गया था। इसके निदान के लिए घी क्वार, लहसुन, सेब, गोभी, फली, हल्दी इत्यादि का उपयोग बताया गया है।

इन्द्रिय निग्रह का भी उनके उपचार में प्रावधान था। पित्त की अधिकता से होने वाले रोग एवं कोढ़, उन्माद, पागलपन, अपस्मार आदि रोगों का उपचार चरक संहिता में दिया गया है।

चरक संहिता का अरब शासकों ने अरबी तथा फारसी में अनुवाद कराया। अनेक विदेशी इस औषधि विज्ञान को पढ़ने तथा समझने के लिए भारत आए। अरब देशों से यह विज्ञान यूरोप के अन्य देशों में पहुंचा। इस प्रकार यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है, कि चरक औषधि विज्ञान के जनक थे।



हिन्दी दिवस-14 सितम्बर

अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में उभरती हिन्दी

- महेश चन्द्र शर्मा, पूर्व महापौर

हिन्दी शब्द की व्युत्पत्ति 'सिन्धु' शब्द से मानी जाती है। यवन आक्रमणकारी रूप में जब हिन्दूकुश पहाड़ियों से भारत में प्रविष्ट हुए तो सबसे पहले उन्होंने 'सिन्धु' देश को जाना। चूँकि ईरानी (फारसी) भाषा में 'स' ध्वनि के स्थान पर 'ह' ध्वनि है अतः 'सिन्धु' उन लोगों के द्वारा हिन्दू बोला जाने लगा। साथ ही उनके द्वारा प्रचारित इस भूभाग का नाम 'हिन्द' प्रसिद्ध हो गया। 'हिन्द' देश में बोली जाने वाली भाषा को भी स्वाभाविक तौर पर 'हिन्दवी' या हिन्दी कहा जाने लगा।

हिन्दी केवल भाषा ही नहीं, यह भारत के स्वत्व, अस्मिता और संस्कृति की भी प्रतीक है। समाज में चेतना जागरण का भाव, देशभक्ति का भाव, अपनी संस्कृति और जीवन मूल्यों का ज्ञान भाषा के माध्यम से ही दिया जा सकता है। हिन्दी वह भाषा है, जिसके माध्यम से हमने स्वतंत्रता आंदोलन को सारे देश में गुंजायमान किया और उसके संदेश को घर-घर तक पहुंचाया। आज भी हिन्दी ही हम सबको एकता के सूत्र में बांध सकती है और समाज तथा राष्ट्र को समृद्धशाली बना सकती है।

अब से 63 वर्ष पूर्व 14 सितम्बर, 1949 के दिन संविधान सभा द्वारा हिन्दी को भारत संघ की राजभाषा के रूप में मान्यता दी गई थी। संविधान के निर्माताओं ने सोचा था कि अंग्रेजी का प्रयोग धीरे-धीरे कम करके भारतीय भाषाओं और हिन्दी का प्रयोग होने लगेगा क्योंकि अंग्रेजी देश को दो हिस्सों में बांटती है। एक तो ऐसा वर्ग है जो अपने को आम जनता से अलग कर अंग्रेजी भक्त होने के कारण स्वयं को खास कहता है। दूसरा हिन्दी प्रेमी आम जनता है। हिन्दी राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय सम्मान और राष्ट्रीय एकता का माध्यम है। हिन्दी भाषा का साहित्य अत्यन्त ही समृद्ध है। हिन्दी में कबीर, सूर, तुलसीदास, रहीम, रसखान, जयशंकर प्रसाद, महादेवी वर्मा, मैथिलीशरण गुप्त, सोहन लाल द्विवेदी, श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्री प्रेमचन्द आदि अनेक कवियों और लेखकों की परम्परा रही है। भारत की भारती, यानी राजभाषा हिन्दी, अपनी गरिमा के कारण केवल भारत में ही नहीं, अपितु विश्व के अनेक देशों के महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों में गौरवपूर्ण स्थान पा चुकी है। किसी भी देश के लिए यह गौरव की बात होती है कि उसकी भाषा या भाषाओं का अध्ययन विदेशियों द्वारा उच्च स्तर पर तथा व्यापक रूप से हो और अंतर्राष्ट्रीय जगत् में भी उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हो।

विदेशों में हिंदी के लोकप्रिय होने का मुख्य कारण है भारतीय दर्शन, साहित्य, सभ्यता और संस्कृति में लोगों की रुचि। दूसरा कारण यह है कि जहां भी भारतीय

गए, वे अपने साथ हिन्दी ले गए और वर्षों बाद भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी हिन्दी को अपनी जड़ों से जड़े रहने की इच्छा के कारण हिन्दी का अध्ययन विश्व में लगातार बढ़ता गया। चीन, जापान, थाईलैंड आदि एशियाई देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के कारण भी हिन्दी की लोकप्रियता ने विश्व में एक बृहत् स्वरूप धारण किया।

रूस, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, युगोस्लाविया, हंगरी आदि देशों के लगभग 175 विश्वविद्यालयों में हिंदी-अध्यापन का कार्य लगभग पूरी तरह से स्थानीय हिन्दी-प्राध्यापकों द्वारा संचालित किया जा रहा है।

भारत को समझने की दृष्टि से संसार के 108 विद्या-केन्द्रों में हिन्दी का अध्ययन होता है। अमेरिका में 33 विश्वविद्यालयों में हिन्दी का अध्ययन होता है। यह अध्ययन मुख्यतः हिन्दी-व्याकरण तथा व्यवहार की भाषा के अध्ययन के रूप में होता है। अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् सैमुअल कैलाग ने हिन्दी का प्रथम व्याकरण 1875 में लिखा था और इसका प्रकाशन 1876 में इलाहाबाद में हुआ। प्रसिद्ध विद्वान् श्री ग्राहम बेली ने भी इस व्याकरण का संपादन और संशोधन कर इसे लंदन से प्रकाशित किया। आज अमेरिका के पैनसिल्वेनिया विश्वविद्यालय का फिलाडेल्फिया स्थित लॉडर इंस्टिट्यूट और वॉर्टन स्कूल के एम.बी.ए. और एम.ए. कोर्स में हिन्दी के दो वर्षीय पाठ्यक्रम शुरू हो गये हैं। यह ज्वाइंट डिग्री प्रोग्राम हिन्दी में प्रशिक्षण देने के अलावा भारत की सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिविधियों तथा व्यावसायिक मूल्यों के बारे में जानकारी देंगे।

भारत के हिन्दी-क्षेत्रों को छोड़कर सोवियत संघ विश्व का पहला देश है, जहां हिन्दी भाषा और साहित्य का व्यापक आधार पर अध्ययन, अनुवाद और अनुसंधान कार्य चल रहा है। ब्रिटेन में हिन्दी का नियमित शिक्षण तीन विश्वविद्यालयों में होता है-लंदन विश्वविद्यालय, कैम्ब्रिज और यार्क विश्वविद्यालय। फ्रांस में पेरिस विश्वविद्यालय में भारतीय भाषाओं के चार विभाग हैं-हिन्दी, उर्दू, तमिल और बंगला। यहां पर हिन्दी का पाठ्यक्रम तीन वर्ष का है। मेलबॉर्न के विश्वविद्यालय में भी हिन्दी पढ़ायी जाती है। फिजी में हिन्दी को असाधारण गौरव प्राप्त है। यहां पर हिन्दी व्यापार की भाषा है, किसान और कारखाने की भाषा है।

हमारा लक्ष्य होना चाहिए कि हिन्दी केवल बोलचाल की भाषा बनने तक की सीमित न रहे, बल्कि यह आम आदमी की व्यावहारिक, अदालती, सरकारी कार्यों की भाषा बने। अतः यह आवश्यक है कि हम अपने दैनिक व्यवहार में हिन्दी को अपनाए। अपने संस्थान के समस्त पत्राचार, निमंत्रण-पत्र, आवेदन, नाम-पट्टों और सार्वजनिक कार्यों में हिन्दी का प्रयोग करें। हिन्दी में सोचें, हिन्दी में लिखें। हिन्दी को हम केवल अनुवाद की भाषा ही बनाकर नहीं चलें। जब हम मूल रूप में हिन्दी में सोचने, समझने और लिखने की आदत डालेंगे और हिन्दी की हमें आवश्यकता क्यों है इस बात को समझेंगे और अन्य लोगों से समझायेंगे तब ही हम अपनी राष्ट्रभाषा की सच्ची सेवा कर सकेंगे। □

उपलब्धि बनाम सफलता

- नवल किशोर शर्मा

उपलब्धि और सफलता ऊपरी तौर पर एक दूसरे के पर्यायवाची लगते हैं लेकिन-

दोनों के अर्थ विभाजन में एक गहरी विभाजन रेखा है। हम कह सकते हैं कि किसी व्यक्ति ने अमुक उपलब्धि प्राप्त कर ली लेकिन यह सर्वदा सत्य नहीं हो सकता कि वह एक सफल व्यक्ति हो। प्रत्येक सफलता उपलब्धि है लेकिन उपलब्धि सफलता नहीं हो सकती। उपलब्धि और सफलता को समझने के लिए वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड का प्रसंग महत्वपूर्ण है। विदर्भ के राजा सुदेव का पुत्र श्वेत तपस्वी था। बहमलीन होने पर भी भूख ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। वह नित्य अपना मांस खाता था। उसका सुन्दर शव एक सरोवर में पड़ा रहता था। उसको खाने के लिए वह नित्य स्वर्ग से आया करता था। श्वेत ने एक दिन ब्रह्मा जी से इसका कारण पूछा। ब्रह्मा जी ने बताया कि श्वेत तुमने उत्तम तप करते हुए केवल अपने शरीर का ही पोषण किया है। तुमने देवताओं, पितरों एवं अतिथियों के लिए कभी कोई थोड़ा सा भी दान किया हो ऐसा नहीं लगता। तुम केवल तपस्या करते थे इसलिए ब्रह्म लोक में आकर भी तुम भूख-प्यास से पीड़ित हो रहे हो।

रामायण में दिया गया यह प्रसंग उपलब्धि और सफलता के विभेद को समझने का एक अनुपम उदाहरण कहा जा सकता है। श्वेत ने तपस्या द्वारा ब्रह्मलीनता प्राप्त की। यह उसके जीवन की उपलब्धि कही जाएगी परन्तु स्वर्ग में पहुंचकर भी वह अभावग्रस्त रहा, यह उसके जीवन की असफलता रही। इस प्रकार स्पष्ट है कि सफलता जीवन की पूर्णता को इंगित करती है।

कोई मनुष्य जीवन में सफलता प्राप्त करे इसके लिए जीवन की सफलता, जीवन के साधन की सफलता तथा जीवन से जुड़े अन्य दायित्वों में सफलता आदि बिन्दुओं पर विशेष विचार किया जाना चाहिए। जीवन के साधन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि जीविका का साधन सदा साध्य नहीं रहें, उसे साध्य का स्थान नहीं दिया जाना चाहिए। श्वेत में वही भूल की और जीवन की सफलता से महरूम रह गया। जीविका साधन में सफलता की दृष्टि से व्यक्ति को यह बात समझ लेनी चाहिए कि वह जिस पद पर आसीन है अथवा जिस व्यवसाय में लगा हुआ है उसका

मूल उद्देश्य क्या है? उस उद्देश्य की पूर्ति में वह अपनी संपूर्ण सामर्थ्य लगा दे। इसी में उसके जीवन के साधन की सफलता निहित है। यह सही है कि इस प्रक्रिया में अत्यधिक धनोपार्जन तो नहीं होगा लेकिन कीर्ति नामक उपलब्धि पाने में वह सफल हो जाएगा। इस स्थिति को हम डॉक्टर के इस उदाहरण से समझ सकते हैं। डॉक्टर का पद एक व्यक्ति के लिए जीविका का साधन है। इस पद का उद्देश्य अपने मरीजों की पूर्ण कौशल, निष्ठा एवं सामर्थ्य से उपचार कार्य करना है। ऐसा करके डॉक्टर अपने जीविका के साधन डाक्टरी में कीर्ति व सम्मान आदि उपलब्धियां प्राप्त करेगा परन्तु यदि वही डॉक्टर अत्यधिक धनोपार्जन से सेवा भाव को त्यागकर मात्र धन संग्रह पर अपने को केन्द्रित रखता है तो वह ना तो कोई उपलब्धि प्राप्त करेगा ना ही उसका जीवन सफल माना जाएगा। किसी व्यवसाय में जीवन की साधनता का स्वरूप हम डॉक्टर के बताए गए उपर्युक्त उदाहरण से समझ सकते हैं। यह कल्पना कीजिए कि डाक्टर अपने क्षेत्र में कार्यरत है और वहां एक ऐसा गरीब व्यक्ति उसकी चौखट पर अपना इलाज करवाने आता है जिसके पास इतने साधन नहीं हैं कि वह उस डॉक्टर की फीस और दवाईयों का खर्च उठा सके। अब यदि डॉक्टर अपने पेशे का धर्म मानते हुए उस गरीब का मुफ्त इलाज करता है तो निश्चित तौर पर उस डाक्टर ने अपने व्यवसाय के उद्देश्य पालन की दृष्टि से सफलता प्राप्त कर ली है और जो ख्याति उसे मिली वह उसकी उपलब्धि होगी चाहे वह उतना धन कमाने में सफल नहीं हुआ जितना वह कमा सकता था। जीविका के साधन के रूप में डॉक्टरी उसका व्यवसाय है परन्तु इस प्रकार गरीब के लिए की गई सेवा उसे आत्म-संतोष देगी और यही आत्म-संतोष उसके जीवन की सफलता के खाते में जमा होता जाएगा। यहां डॉक्टर ने स्वधर्म का पालन किया।

जीवन से जुड़े अन्य दायित्वों में सफलता का मापदण्ड भी वही होगा कि व्यक्ति अपने तात्कालिक दायित्वों के उद्देश्य की पूर्ति में अनवरत रूप से रत रहे। एक पिता अपनी सन्तान के प्रति पिता-दायित्व निभाते हुए उसे ऐसी शिक्षा दे जिससे वह जीवन के हर क्षेत्र में मौलिक सफलता प्राप्त कर सके और पिता ऐसा करता है तो वह अपने पिता होने के दायित्व का निर्वाह करते हुए एक सफल पिता होने का दर्जा प्राप्त करता है। परन्तु वर्तमान में पिता प्रायः यह कहते हुए सुने जाते हैं कि मैंने अपने बच्चों की हर इच्छा को पूरा करने का प्रयास किया है और यह कहते हुए वह गौरव का अनुभव करते हैं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि पिता का एक मात्र दायित्व सन्तान की इच्छाओं की पूर्ति मात्र है। उसको योग्य नागरिक बनाना और जीवन में सफलता प्राप्ति हेतु संघर्ष करने हेतु क्षमता प्रदान करना नहीं है। इस श्रेणी के बच्चे नैतिक रूप

से दुर्बल हो जाते हैं। आगे चलकर वे अपने जीवन में अपनी इच्छाओं की पूर्ति हेतु अनैतिक कार्य में संलिप्त होंगे। इस सब का कहने का तात्पर्य यही है कि अपने पद, व्यवसाय एवं उत्तरदायित्व में सफलता का मार्ग एक ही है, उससे जुड़े हुए उद्देश्य की पूर्ति हेतु पूर्ण सामर्थ्य के साथ प्रयत्नशील रहना।

प्रायः यह देखा जाता है कि जब भी कोई व्यक्ति अपने जीवन की सफलता के लिए प्रयास करता है तो उसे ऐसे व्यक्ति जो बीमार मानसिकता के होते हैं उसे सामान्य प्रतिभा का धनी बता कर उसमें हीन भावना पैदा करने का प्रयास करते हैं। परिणामस्वरूप वह व्यक्ति स्वयं को हीन मानने लगता है। उसकी यह धारणा बन जाती है कि वह सामान्य प्रतिभा का व्यक्ति जन्म से प्रतिभावान नहीं है। प्रतिभा सब में होती है बस अन्तर यह है कि कुछ व्यक्ति उसका उपयोग समय पर कर लेते हैं और कुछ उस अवसर का उपयोग नहीं कर सकता हैं। □

हमारी मातृ-भूमि

यह वही प्राचीन भूमि है, जहां दूसरे देशों को जाने से पहले तत्त्व ज्ञान ने आकर अपनी वासभूमि बनायी थी; यह वही भारत है, जहां के आध्यात्मिक प्रवाह का स्थूल प्रतिरूप उसके बहने वाले, समुद्राकार नद है, जहां चिरन्तन हिमालय श्रेणीबद्ध उठा हुआ अपने हिमशिखरों द्वारा मानो स्वर्गराज्य के रहस्यों की ओर निहार रहा है। यह वही भारत है, जिसकी भूमि पर संसार के सर्वश्रेष्ठ ऋषियों की चरणरज पड़ चुकी है। यहीं सबसे पहले मनुष्य-प्रकृति तथा अन्तर्जगत् के रहस्योद्घाटन की जिज्ञासाओं के अंकुर उगे थे। आत्मा का अमरत्व, अन्तर्यामी ईश्वर एवं जगत्प्रपंच तथा मनुष्य के भीतर सर्वव्यापी परमात्मा विषयक मतवादों का पहले पहल यही उद्भव हुआ था। और यहीं धर्म और दर्शन के आदर्शों ने अपनी परम उन्नति प्राप्त की थी। यह वही भूमि है, जहां से उमड़ती हुई बाढ़ की तरह धर्म तथा दर्शनिक तत्वों ने समग्र संसार को बार-बार प्लावित कर दिया। वह यही भारत है जो शताब्दियों के आघात, विदेशियों के शत शत आक्रमण और सैकड़ों आचार व्यवहारों के विपर्यय सहकर भी अक्षय बना हुआ है। यह वही भारत है जो अपने अविनाशी वीर्य और जीवन के साथ अब तक पर्वत से भी दृढ़तर भाव से खड़ा है। आत्मा जैसे अनादि, अनन्त और अमृतस्वरूप है, वैसे ही हमारी भारतभूमि का जीवन है, और हम इसी देश की सन्तान हैं।

—स्वामी विवेकानन्द

कर्म में कुशलता ही योग है

— डॉ० प्रदीप कुमार

गीता में कहा गया है कि कर्म का कुशलता से करना योग है। कुशलता से किया गया कर्म कर्म-योग होता है। कुशल कर्म अहिंसा से पूर्ण, शांतिमय, निस्वार्थ और अपराधबोध रहित होता है। ऐसे कर्म में साक्षी भाव होता है अर्थात् व्यक्ति कर्म के ज्वार-भाटे में लिप्त नहीं होता है। उसका हृदय और आत्मा कर्मफल से अछूती रहती है। इसे समझने के लिए हमें योग और कुशल कर्म के गहरे में जाना पड़ेगा।

योग 'युज्' शब्द से आया है जिसका अर्थ है जुड़ना या समन्यवन। यदि मानव जीवन में चिंतन, कथनी और करनी एक हो जाए तो वह योग की स्थिति है। इस अवस्था में विचार, भावनाओं एवं देह के बीच सामंजस्य स्थापित हो जाता है। सामान्यतः व्यक्ति के तन और मन के बीच समन्यवन नहीं होता है। सामाजिक और निजी जीवन के बीच गहरा अंतराल होता है। देह कुछ कहती है और मन कुछ और करता है जिसके कारण जीवन द्वंद्व से भर उठता है। यदि यह द्वंद्व निरंतर बना रहे तो शारीरिक एवं मानसिक रोगों का कारण हो जाता है।

तन-मन के बीच समन्यवन न होने का भी कारण है। संसार में व्यक्ति अपनी अनोखी प्रकृति के साथ जन्म लेता है। यदि उसे प्रकृति का प्रेम और आश्रय मिले तो मूल व्यक्तित्व का बीज विशाल वृक्ष बनने की क्षमता रखता है जिस पर आनंद और सृजन के फल-फूल लगते हैं। किन्तु अक्सर ऐसा हो नहीं पाता, क्योंकि समाज की अपेक्षाएं व्यक्ति की मूल प्रकृति से भिन्न होती हैं। समाज एवं परिवार व्यक्ति को एक समुदाय, धर्म, परंपरा और संस्कृति का अंग बनाना चाहते हैं। उस व्यक्ति की मूल प्रकृति को पालने-पोसने में कोई दिलचस्पी नहीं होती है। चूंकि व्यक्ति बचपन में अपने लालन-पालन के लिए परिवार पर निर्भर करता है, इसलिए वह उन्हें नाराज नहीं करना चाहता है और उनके साथ संघर्ष से बचने के लिए अपनी मूल प्रकृति या आत्मा के प्रति समझौता कर लेता है। इस समझौते से वह परिवार, समाज के साथ संघर्ष से तो बच जाता है किन्तु वह स्वयं दो हिस्सों में बंट जाता है।

प्रथम हिस्सा उसके हृदय और आत्मा का है जो चाहे कितना भी सुप्त हो जाए फिर भी जीवित रहता है और अपने होने का निरंतर आभास कराता रहता है।

दूसरा हिस्सा उसका मुखौटा है जो वह समाज को प्रसन्न करने के लिए ओढ़ लेता है। व्यक्ति के ये दोनों हिस्से अक्सर एक दूसरे से विपरीत होते हैं, जिनमें द्वंद्व चलता रहता है जो तनाव और असंतोष का कारण होता है।

संसार में अधिकतर व्यक्ति चाहे वे बाहरी रूप से सफल हो या असफल, इन दो हिस्सों के द्वंद्व में जूझते रहते हैं। जीवन अशांति और अतृप्ति से भरा रहता है। ऐसे व्यक्तियों का कर्म एवं कर्तव्य निर्वाह कभी भी हृदय और आत्मा से नहीं जुड़ता है और सदा अपूर्ण होता है। वह कभी कर्मयोग नहीं बन पाता है।

व्यक्ति की मूल प्रकृति, उसके हृदय और आत्मा से उपजे कर्म में दो विशेषताएं होती हैं-

प्रथम-प्रकृति से निकला कर्म सदा उर्जावान होता है। उसमें मुक्ति और आनंद भाव होता है जिसे अवसाद छू नहीं सकता है।

दूसरा-ऐसे कर्म में सृजन का स्पर्श होता है अर्थात् कर्म दूसरों की नकल नहीं होता है। उसमें अपना मौलिक गुण होता है जो सृजनात्मक कर्म की विशेषता है। इन दोनों विशेषताओं के कारण व्यक्ति कभी असफल नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म स्वयं फल बन जाता है। ऐसे कर्म में फल की योजना तो होती है किन्तु उपर्युक्त फल न मिलने पर भी असफलता की अनुभूति नहीं होती है।

कर्म कौशल के संदर्भ में मुझे एक घटना अभी तक याद है। शिवानंद आश्रम, ऋषिकेश में मैं स्वामी चिदानन्द जी से मिलने गया। बातचीत के दौरान उनका ध्यान फर्श पर रेंगते हुए एक कीड़े की ओर गया। उन्होंने प्रेम से कीड़े को अपनी हथेली पर उठाया और कोने में रखे हुए एक पौधे की पत्ती पर रख दिया। इस पूरी प्रक्रिया के दौरान स्वामी के चेहरे पर करुणा के भाव थे। यह स्वामी जी का कर्म नहीं, कर्मयोग था।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि कुशल कर्म के दो तत्व होते हैं।

प्रथम-व्यक्ति अपनी मूल प्रकृति या आत्मा में स्थित होता है जहां से उसके चिंतन, वाणी और कर्म का उदय होता है।

दूसरा-वह चिंतन सीधे एवं स्पष्ट कर्म के रूप में संसार में प्रकट होता है।

जब मूल चिंतन और कर्म में अंतर न हो तो वे समग्र जीवन प्रवाह के दो अंग होते हैं। इस स्थिति में कर्म, कर्मयोग बन जाता है और कर्म योग कर्म को कुशलता से करने की प्रक्रिया है।



सवाल है बच्चों की सही तालीम का

- फ्रिट्ज काप्रा

बच्चों को सभी पढ़ाने में लगे हैं और बच्चे हैं कि पढ़ाई से सबसे ज्यादा और सबसे पहले ऊब जाते हैं। तो कमी कहां है? आधुनिक समाजशास्त्रियों में फ्रिट्ज काप्रा का नाम आज सर्वाधिक प्रतिष्ठित है और काप्रा कहते हैं कि बच्चों को पढ़ाने की नहीं, उनके साथ पढ़ने की जरूरत है...

मुझसे अक्सर पूछा जाता है कि आप किस टिकाऊ समाज की बात करते हैं, वह क्या है? जवाब में कहा जा सकता है कि भावी पीढ़ियों की सम्भावनाओं को कम किये बगैर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाला समाज टिकाऊ समाज होता है। यह शास्त्रीय परिभाषा है, किन्तु इससे हमें यह ज्ञात नहीं होता कि वस्तुतः टिकाऊ समाज की रचना कैसे की जाए?

हमें एक व्यावहारिक परिभाषा की आवश्यकता है। अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि मानव-समाज का आविष्कार शून्य से नहीं हुआ था। प्रकृति के पर्यावरण तंत्र के भीतर ही उसका जन्म व विकास हुआ है, जिसमें वनस्पतियों, प्राणियों और सूक्ष्म जीवों के भी अपने-अपने ढांचे शामिल हैं। टिकाऊ मानव समाज को अपनी जीवन-शैली, व्यवसाय, अर्थव्यवस्था, भौतिक संरचनाएं और अपनी तकनीक को इस प्रकार ढालना होगा कि वे प्रकृति की अंतर्निहित विशिष्टताओं को प्रभावित न करें, टिकाऊपन की परिभाषा में ही यह निहित है कि ऐसे समाजों की रचना करने के हमारे प्रयत्नों में हम जीवन के ताने-बाने को स्थायित्व प्रदान करने वाले तंत्र के सिद्धांतों को भी समझें, आने वाले दशकों में इस विज्ञान के मूलभूत सिद्धांतों के प्रति हमारी समझ और उसके अनुरूप जीवन जीने की हमारी क्षमता पर मनुष्य जाति का अस्तित्व निर्भर करेगा।

हमें अपने बच्चों को और राजनीतिक व्यावसायिक नेतृत्व को जीवन के बुनियादी यथार्थ से परिचित कराना होगा। जैसे कि जीवन के सारे ताने-बाने में पदार्थ सतत चक्र्रीय गति से गतिमान रहता है, कि पारिस्थिति की तंत्र को गतिमान बनाये रखने वाली ऊर्जा सूर्य से मिलती है; कि विविधता सदैव सहनशीलता चाहती है; कि एक जीव दूसरे जीवों का आहार है; कि तीन अरब वर्ष पूर्व अपने आरम्भिक काल में जीवन ने पृथ्वी पर विजय प्राप्त नहीं की थी, आपसी ताने-बाने के दम पर अपना

विस्तार किया है। यह ज्ञान ही, जो पुरातन दर्शन भी है, 21वीं सदी की शिक्षा का मुख्य बिंदु होगा।

पर्यावरण के सिद्धांतों को पूरी तरह समझने के लिए हमें सम्बन्धों और संदर्भों में सोचने की आवश्यकता है। इस सोच प्रक्रिया के लिए उन अवधारणाओं में आमूल परिवर्तन करना होगा, जो पारम्परिक पाश्चात्य विज्ञान और शिक्षा-शास्त्र पर आधारित है।

इस नयी विचार-प्रक्रिया से ही विज्ञान का भी नया आयाम विकसित हो रहा है, जिसमें जीवन के प्रति सुव्यवस्थित समझ आकार ले रही है। ब्रह्मांड को अलग-अलग पुर्जों से बनी मशीन के रूप में देखने के बदले वैज्ञानिकों ने माना है कि अंतोगत्वा यह भौतिक जगत अविभक्त प्रतिरूपों के सम्बन्धों का संजाल है; कि पृथ्वी समग्रतः जीवन और आत्मनिर्यात्रित व्यवस्था है। मानव-शरीर, यंत्र और बुद्धि अलग-अलग इकाई नहीं, एक सजीव और सचेत व्यवस्था है। यह दृष्टि जीवन के विकास क्रम को अस्तित्व के लिए प्रतिस्पर्धा के संघर्ष के रूप में देखने के बदले नवीनता और सृजनात्मकता की जुगलबंदी के रूप में देखती है। इसलिए पारिस्थितिकी विज्ञान में जीव-विज्ञान के साथ-साथ भू-विज्ञान, वायुमंडलीय रसायनशास्त्र और विज्ञान की अनेक शाखाएं समाहित हैं और जब मानवीय पारिस्थितिकी की बात हो, तब तो हमें इसमें अन्य सभी क्षेत्रों को शामिल करना होगा-कृषि, अर्थशास्त्र, औद्योगिक संरचना और राजनीति भी।

जब हम इन सिद्धांतों का गहराई से अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि इनमें घनिष्ठ अंतः सम्बन्ध हैं। वे सब एक मूलभूत संरचना के अवयव हैं, जिसने अरबों वर्षों से प्रकृति को जीवन धारण करने लायक बनाये रखा है।

कोई भी जीव एकाकी जीवित नहीं रह सकता। वनस्पतियों के प्रकाश-संश्लेषण द्वारा प्राणी अपनी ऊर्जा की आवश्यकता पूर्ण करते हैं, प्राणियों द्वारा उत्सर्जित कार्बन डाइ-आक्साइड वनस्पतियों के काम आती हैं, सूक्ष्म जीवाणुओं द्वारा उनकी जड़ों में जमा नाइट्रोजन से भी वनस्पतियों को खुराक मिलती है। इस प्रकार वनस्पति प्राणी और सूक्ष्म जीवाणु, तीनों मिलकर समूचे जीव-जगत को गतिमान रखते हैं, जीवन योग्य स्थितियां बनाये रखते हैं।

बच्चों के लिए जरूरी है कि वे सिर्फ पर्यावरण-विज्ञान को न समझें, बल्कि उसे प्रकृति में, विद्यालय में, बगीचे में, बेंच पर व नदी के प्रवाह में भी महसूस करें। इस तरह जब वे पर्यावरण-साक्षर हो जाएं तो अपने समुदायों को भी साक्षर बनायें। ऐसा नहीं होगा तो? वे प्रथम श्रेणी के पर्यावरणविद तो बन जाएंगे, मगर प्रकृति और पृथ्वी की परवाह नहीं करेंगे, प्रकृति के साथ भावनात्मक रिश्ता बनाने वाला अनुभव सबको

मिलना चाहिए। स्कूल के बगीचे या किसी छोटी नदी की पुनरुद्धार परियोजना 'कार्य आधारित शिक्षण' है। वास्तविक जीवन की जटिलताओं में छात्रों को शामिल करके उन्हें सीखने का अनुभव देना चाहिए। इससे बच्चों को महत्वपूर्ण अनुभव मिलते हैं-परस्पर सहयोग, परामर्श, विविध सूचना तंत्र के बीच सामंजस्य, पढ़ाई पढ़कर बच्चे कितना सीखते हैं? शोधकर्ताओं ने पाया है कि पढ़ने के दो सप्ताह बाद हमें केवल दस प्रतिशत ही याद रहता है; सुनी हुई बातें 20 प्रतिशत याद रहती हैं; जिन विषयों की हम चर्चा करते हैं उसका 50 प्रतिशत और जो अनुभव करते हैं उसका 90 प्रतिशत याद रहता है। इसलिए पारिस्थितिकी-विज्ञान को बहुआयामी तरीके से पढ़ाना जरूरी है।

इसकी सम्भावनाएं परखी जा सकती हैं, जब पूरा स्कूल सीखने वाला समुदाय बन जाए। ऐसे समुदाय में शिक्षक, छात्र, प्रबंधक और अभिभावक सभी सीखने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए काम करते हुए, परस्पर रिश्तों में जुड़ते हैं। शिक्षा ऊपर से नीचे की ओर नहीं बहती, बल्कि ज्ञान का परस्पर विनियम होता है। सीखने की प्रक्रिया पर गौर करें तो पायेंगे कि इस प्रक्रिया में प्रत्येक व्यक्ति शिक्षक भी है और विद्यार्थी भी।

पारम्परिक शिक्षा छात्रों को निष्क्रिय लाभार्थी के रूप में देखती है और पाठ्यक्रम पूर्व निर्धारित तथा संदर्भहीन सूचनाओं का पुलिंदा भर होता है। इसे पूर्णतः खारिज करना होगा। छात्रों को वास्तविक जीवन कार्यों से जोड़ना होगा। पूर्वनिर्धारित तथा संदर्भहीन सूचनाओं के बदले हम छात्रों को उनके व्यक्तित्व अतीत तथा उनकी सांस्कृतिक भूमिका के आधार पर सिखाने की प्रक्रिया तैयार करें।

टिकाऊ जीवन के लिए शिक्षा एक ऐसा उपक्रम है जो नस्ल, संस्कृति, वर्ग आदि के भेद समाप्त करता है। यह धरती हम सबका घर है और हमारे बच्चों तथा आने वाली पीढ़ियों के लिए स्थाई विश्व की रचना करना हम सबका साझा उद्देश्य है। □

एकाग्रता-सफलता की कुंजी : एकाग्रता की शक्ति कितनी अधिक होगी, ज्ञान की प्राप्ति भी उतनी ही अधिक होगी। चर्मकार यदि एकाग्र होगा, तो जूता अच्छा बनायेगा। रसोइया एकाग्रचित होने से अधिक अच्छा भोजन पकायेगा। पैसा कमाने में अथवा ईश्वर की आराधना करने में या और भी कोई कार्य करने में जितनी अधिक एकाग्रता होगी, वह कार्य उतना ही अच्छा सम्पन्न होगा।

स्वामी विवेकानन्द

असफलताएं जीवन को और सुंदर बनाती हैं

स्वामी विवेकानंद ने एक बार कुछ युवाओं से कहा, तुम अपनी गलतियों के लिए दूसरों को दोष क्यों देते हो? असल में तो तुम जो बोते हो, वही काटते हो। दूसरों पर दोषारोपण हमें दुर्बल और सिर्फ दुर्बल ही बनाता है।

अपनी दुर्बलताओं के लिए किसी और को दोष मत दो। सारी जिम्मेदारी अपने कंधे पर लो। कहो, यह जो कष्ट झेल रहा हूँ, यह मेरा ही रचा हुआ है। इसका अर्थ यह हुआ कि इसे मैं ही खत्म कर सकता हूँ। इसलिए यह जानो कि अपने भाग्य के निर्माता तुम स्वयं हो। कोई भी देवता अलग से आकर हमारा बोझ उठाने वाला नहीं है।

जब हम यह समझ लेते हैं कि किसी कार्य के लिए स्वयं हम ही जिम्मेदार हैं, तब हम अपने श्रेष्ठतम रूप में सामने आते हैं। विवेकानंद ने कहा कि सारी शक्तियाँ और सफलताएं असल में तुम्हारे निकट ही होती हैं। इंद्रिय सुखों एवं भोगों की उस दौड़ का कोई अंत नहीं होता। लेकिन उससे बुरे विचार और बुरे कर्म हमेशा तुम्हें नष्ट करने के लिए आतुर रहते हैं, वैसे ही अच्छे विचार और अच्छे कर्म भी हजार देवदूतों के समान तुम्हारी रक्षा के लिए सदैव तैयार रहते हैं। इसलिए कोल्हू के बैल की तरह कुछ पाए बिना सिर्फ एक ही गोल घेरे में भटकने से कोई लाभ नहीं है। तुम्हें स्वयं ही इस चक्र से बाहर निकलना होगा।

जीवन के इस संग्राम में धूल-मिट्टी का उड़ना स्वाभाविक है। जो इस धूल को सहन नहीं कर सकता, वह आगे कैसे बढ़ सकेगा? ये असफलताएं, सफलता के मार्ग की अनिवार्य सीढ़ियाँ हैं। यदि कोई व्यक्ति आदर्श के साथ एक हजार गलतियाँ करता है, तो बिना आदर्श के वह पचास हजार गलतियाँ करेगा। इसलिए हर व्यक्ति के जीवन में अपना एक आदर्श होना आवश्यक है। इसे कभी नहीं छोड़ना चाहिए। इस पर डट कर खड़े रहने से हम कई जगह फिसलने से बच जाते हैं। स्वामी जी मानते थे कि व्यक्ति का चरित्र और कुछ नहीं, उसी की आदतों और वृत्तियों का ही सार है। हमारी आदतें और व्यवहार ही हमारे चरित्र का स्वरूप निश्चित करती हैं। चित्त की विशेष अवस्था, उसकी श्रेष्ठता और निकृष्टता के अनुरूप ही हमारे चरित्र की सफलता और निर्बलता सुनिश्चित होती है। जीवन में नैतिक नियमों का पालन बाहरी

दबाव के कारण हो, इसके बदले वह अंदर से आए तो ज्यादा अच्छा और सहज होता है। अच्छे चिंतन और आचरण के रूप में जिस चरित्र गठन होता है, वही बाद में साधना का रूप ले लेता है।

अपने अंदर दिव्यता की हल्की सी झलक भी मिल जाए तो वह युवा लोगों को अपने भीतर निहित संभावनाओं के प्रति आश्वस्त करती है। स्वामी जी ने लिखा है, इतनी तपस्या के बाद मैं इस सचाई को समझ पाया हूँ कि हर प्राणी में ईश्वर ही मौजूद है। जो जीव सेवा करता है, वह असल में ईश्वर की सेवा करता है। जो इस प्रकट ईश्वर की सेवा नहीं कर सकता, वह उस अप्रकट ईश्वर की सेवा कैसे करेगा? उन्होंने कहा, इसलिए प्रत्येक पुरुष, स्त्री और सभी प्राणियों को भगवान के रूप में देखो।

इनकी सेवा ही सर्वोच्च धर्म है। पत्थर पूजने और मनुष्य का अनादर करने वाला कभी धार्मिक नहीं हो सकता, वह धार्मिक होने का दिखावा करता है। धर्म का अर्थ है कि हम अपने भीतर की दिव्यता को जगाएं।

अपनी बात समाप्त करते हुए उन्होंने एक बहुत ही मार्मिक बात कही। वे बोले, मैं जानता हूँ, मार्ग कठिन है। लेकिन तुम्हारे भीतर आदर्श की अग्नि जगमगा रही है। चिंता मत करो...असफलताओं की परवाह मत करो...वे सब स्वाभाविक है। असल में तो वही जीवन का सौंदर्य है।

संकलित



मैं चाहता हूँ लोहे की नसें, फौलाद के स्नायु, व अदम्य इच्छा शक्ति : आगे बढ़ो, हमें अनन्त शक्ति, अनन्त उत्साह, अनन्त साहस तथा अनन्त धैर्य चाहिये, तभी महान् कार्य सम्पन्न होंगे। मेरे बच्चों ! मैं जो चाहता हूँ, वह हैं लोहे की नसें और फौलाद के स्नायु जिनके भीतर ऐसा मन वास करता हो जो कि वज्र के समान पदार्थ का बना हो। तदुपरान्त आवश्यकता है, इस तरह की दृढ़ व अदम्य इच्छाशक्ति सम्पन्न होने की, कि उसका कोई प्रतिरोध करने में समर्थ न हो एवं जो ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों को भेद सके।

- स्वामी विवेकानन्द

इतिहास का पन्ना

- लक्ष्मी नारायण अग्रवाल

प्रिय पाठकों, आप 'इतिहास का पन्ना' शीर्षक देखकर शायद चौंक रहे होंगे, किन्तु सत्य ये है कि आज आम आदमी को इतिहास की जानकारी देना बहुत जरूरी हो गया है। मोटी-मोटी इतिहास की पुस्तकें पढ़ने का समय किसी के पास नहीं है किन्तु एक दो पन्ने ज्ञान प्रभा के प्रत्येक अंक में पढ़कर अपना ज्ञान बढ़ाना शायद हर जागरूक पाठक चाहेगा। ये प्रश्न भी उठता है कि इतिहास क्यों, उत्तर यह है कि किसी भी समूह, जाति, मजहब या देश के चरित्र को समझने के लिए इतिहास से अच्छा कोई स्रोत नहीं है। ये हमारा प्रयास रहेगा कि यहां पर प्रकाशित लेख आपको ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी भी दें और आपके चिंतन को भी जगाएं ताकि आप अपने को और दूसरों को ठीक से समझ सकें।

1857 के संग्राम के बारे में यदि हमसे पूछा जाए तो हम रानी लक्ष्मी बाई, मंगल पांडे, तांत्याटोपे, जैसे दो चार नाम गिनाकर रह जाएंगे। किन्तु सच ये है कि आजादी के लिए इस तरह का संघर्ष सौ साल पहले शुरू हो गया था और पचास साल बाद तक चलता रहा। सैकड़ों सेना नायकों ने इसमें भाग लिया, हजारों ने अपनी जान दी। इस संग्राम से एक विवाद भी जुड़ा है। कुछ लोग कहते हैं कि ये प्रथम स्वतंत्रता संग्राम था, कुछ लोग कहते हैं कि केवल राजे रजवाड़ों का विद्रोह था, इसलिए इस स्तम्भ की शुरुआत हम एक सच्चे जन नायक से कर रहे हैं। इसका सच क्या है, पढ़कर आप खुद निर्णय कर लीजिए।

शमशेर गाजी-1760 के आते आते पूरे भारत में किसान, जमींदार और अंग्रेज रूपी दो पाटों के बीच पिस रहा था किन्तु त्रिपुरा के रौशनाबाद परगना में हालत ज्यादा ही खराब थी। ऊपर से मालगुजारी अचानक 33 हजार से बढ़ाकर एक लाख कर दी गई। किसानों के लिए जब लगान देना असम्भव हो गया तो जुल्मों से बचने के लिए किसान अपने बच्चों, बहन बेटियों को साहूकारों के हाथ बेचने को मजबूर हो गए। कोई-कोई किसान खुद भी बिक गया और कोई जंगल में भाग गया।

ऐसे ही एक मुस्लिम परिवार ने भूख से बचने के लिए अपने बेटे को एक ताकतवर जमींदार, नासिर मुहम्मद के हाथों बेच दिया। होनी देखिए कि यही बच्चा

बड़ा होकर एक वीर और होनहार व्यक्ति बना। उसकी योग्यता से प्रभावित होकर नासिर ने उसको कूटघाट का तहसीलदार बना दिया। ये शमशेर गाजी ही था।

तहसीलदार के रूप में शमशेर जब किसानों के मुर्झाए चेहरे देखता तो उसे मां बाप के चेहरे और खुद का बिकना याद आ जाता। उसके अन्दर का इन्सान जाग उठा और उसने विद्रोह करने का मन बना लिया। उसने धीरे-धीरे गुप्त रूप से किसान युवकों को संगठित किया और जब संगठन काफी मजबूत हो गया तो वो एक दिन नासिर मुहम्मद से उसकी बेटी का हाथ मांगने पहुंच गया। कहां गुलाम, कहां आका, वही हुआ जो होना था, दोनों में ठन गई। शमशेर उस समय तो वहां से भाग निकला और बाद में किसान सेना की मदद से उसने नासिर मुहम्मद पर हमला करके उसे मार दिया।

नासिर की मृत्यु के बाद त्रिपुरा के राजा ने मंत्री के नेतृत्व में सेना भेजी किन्तु शमशेर ने उसको भी परास्त कर दिया। राजा रूपी सरदर्द को हमेशा के लिए समाप्त करने के लिए शमशेर ने खुद ही त्रिपुरा की राजधानी पर हमला कर दिया और राजा माणिक्य को हराकर भगा दिया एवं अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। स्वाधीन होते ही शमशेर ने किसानों पर से लगान का भार हटा कर व्यापारियों पर डाल दिया और खेती के विकास में लग गया।

किसानों पर लगान हटाने से किसानों का जीवन तो सुधर गया किन्तु विकास के लिए धन की कमी पड़ने लगी। धन प्राप्त करने के लिए शमशेर ने अंग्रेजों के क्षेत्र में घुसकर जुल्मी जमींदारों को लूटना शुरू कर दिया। उधर पराजित राजा माणिक्य ने नवाब से मदद मांगी। मीर कासिम की सेना बहुत शक्तिशाली थी अतः शमशेर को हार का मुंह देखना पड़ा। शमशेर को पकड़ कर मुर्शिदाबाद लाया गया और एक तोप से बांध कर उड़ा दिया गया। शमशेर गाजी की याद में बंगला देश सीमा पर, शमशेर नगर आज भी बसा हुआ है।

शमशेर गाजी किसके लिए लड़ा, अपने लिए, परिवार के लिए, सत्ता के लिए, मजहब के लिए? नहीं वो जन जन की आजादी के लिए शहीद हुआ। सच्चे मायनों में वह जन नायक था।

मेरे जीवन की निष्ठा : मेरे जीवन की निष्ठा तो मेरी इस मातृभूमि के प्रति अर्पित है और यदि मुझे हजार जीवन भी प्राप्त हों तो प्रत्येक जीवन का प्रत्येक क्षण मेरे देशवासियों ! मेरे मित्रों ! मैं तुम्हारी सेवा में अर्पित करूंगा।
-स्वामी विवेकानन्द

मेरा जीवन-दर्शन

- अल्बर्ट आइंस्टाइन

जो व्यक्ति अपने स्वयं के एवं मानव-समाज के जीवन को तुच्छ समझता है, वह अभागा ही नहीं, वरन जीवित रहने के अयोग्य भी है।

हम अल्पकाल के लिए ही संसार में आये हैं। क्यों आये हैं? किस उद्देश्य साधन के निमित्त आये हैं? यह हम नहीं जानते। गम्भीरता से इस प्रश्न पर यदि विचार न भी करें, तो भी कम-से-कम व्यावहारिक दृष्टि से मुझे ऐसा लगता है कि हमारा जीवन मानव-जाति के लिए ही है। हम उनके लिए जीवित हैं, जिसकी हंसी और मुस्कराहट पर हमारी शांति आश्रित है। हम उन सहस्र नर-नारियों के लिए जीवित हैं, जिनसे व्यक्तिगत परिचय न होते हुए भी जीवन के साथ हमारी सहानुभूति का दृढ़ बंधन है।

प्रायः चौबीस घंटों में न जाने कितनी बार मुझे स्मरण हो आता है कि मेरे अंतर और बाहर का विकास अगणित जीवित और मृत मनुष्यों के परिश्रम का फल है। जैसे मैंने इन व्यक्तियों से बहुत-कुछ पाया है, ठीक उसी तरह मुझे भी अपने परिश्रम से समाज को दान भी करना है।

सरल और सादे जीवन के प्रति मुझे मोह है, मैंने अपने लिए दूसरों को आवश्यकता से अधिक कष्ट दिया है-यह सोचते ही मेरा मन वेदना से छटपटाने लगता है। वर्गगत पार्थक्य को मैं अविचार मानता हूँ। इसका अंतिम परिणाम शारीरिक बल प्रयोग ही होता है, ऐसा मेरा विश्वास है। मेरा विश्वास है कि सरल जीवन प्रत्येक के लिए सुखद है।

दार्शनिक दृष्टि से 'मनुष्य मात्र स्वाधीनता' पर मुझे किंचित मात्र भी विश्वास नहीं। शोपेनहावर का कहना है कि मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर सकता है; परंतु वह कब, किस तरह, किस इच्छा की पूर्ति कर पायेगा, यह जान लेना बहुत-कुछ उसके अधिकार और क्षमता के बाहर की वस्तु है।

साधारणतः अपने तथा विश्व के अस्तित्व का रहस्य अथवा जीवन के उद्देश्यों की खोज मैं निरर्थक समझता हूँ, परन्तु फिर भी प्रत्येक अपने सम्मुख कोई-न-कोई ऐसा आदर्श अवश्य रखता है, जो उसके व्यवहार और विचारों को प्रभावित करे। इस तरह शारीरिक सुख और आराम को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य नहीं माना जा सकता।

जिन आदर्शों ने मेरे जीवन-पथ को आलोकित किया है, जो निरंतर मेरे जीवन को आगे बढ़ाने में सहायक हुए हैं, जिन्होंने मुझे साहस और प्रेरणा दी है, वे हैं-सत्, सौंदर्य एवं महानता।

कला व विज्ञान के क्षेत्र में अदृश्य के प्रति अनुसंधान से विमुख जीवन मेरे निकट निस्सार है। धन, सम्पत्ति, वस्तु-जगत की सफलता और विलासिता-सम्बंधी साधारण उद्देश्यों से मुझे घृणा है।

अपने व्यक्तित्व में मैं दो परस्पर विरोधी भाव-धाराओं का अस्तित्व प्रतिक्षण अनुभव करता हूँ। प्रथम, सामाजिक न्याय और दायित्व-पालन की प्रतिष्ठा एवं दूसरा, मनुष्य के आसहचर्य के प्रयोजन-बोध का अभाव। इन सारे बंधनों के होते हुए भी एक विच्छिन्न और निःसंग व्यक्तित्व का अस्तित्व मैंने सदा बनाये रखा।

मैं तो गणतंत्र में विश्वास रखता आया हूँ। प्रत्येक व्यक्ति को सम्मान मिले, परंतु किसी को 'पूजनीय' के विशेषण से विभूषित न किया जाना चाहिए। इसे तो मैं विधि की विडम्बना ही समझता हूँ कि मेरे निकट के संगी-साथियों से मुझे अधिक-से-अधिक सम्मान प्राप्त हुआ, मेरे कृतित्व के पुरस्कार-स्वरूप यह प्रशंसा मिली हो, ऐसा मैं नहीं मानता। कदाचित् मेरे अथक परिश्रम से जिन युगांतरकारी सत्त्यों के दर्शन मुझे हुए, उन्हें समझने के लिए यथेष्ट संख्या में लोगों में आग्रह था। मेरी प्रशंसा और विश्वख्याति का कारण भी कदाचित् यही हो।

यह मैं भली-भांति जानता हूँ कि किसी गूढ़ और जटिल कार्य की सफलता के निमित्त विचार और कर्म दोनों का परिचालन कोई-न-कोई व्यक्ति ही करेगा। किंतु उस व्यक्ति द्वारा जो लोग परिचालित होंगे, उन्हें अपने नेता को निर्वाचित करने की पूरी स्वतंत्रता एवं अवसर प्रदान करना चाहिए। मुझे तो यह दृढ़ विश्वास है कि एकनायकवाद का पतन अवश्यम्भावी है। मैं इस बात में भी विश्वास करता हूँ कि प्रतिभाशाली तानाशाह के पश्चात् ही कठोर शासन का आविर्भाव होता है; इसे एक नियम ही मानना चाहिए। यही कारण है कि इटली (मुसोलिनी-कालीन) और रूस के राजनीतिक दर्शन का मैं विरोधी हूँ, यूरोप के गणतंत्र पर जनता की आस्था कम हो जाने का कारण यहां के शीर्षस्थ शासकवर्ग की दुलमुल कार्य-विधि और निर्वाचन-मंडलों में स्वतंत्र और मौलिक विचारों का अभाव है।

स्वयं गणतंत्र में कोई दोष नहीं है। मनुष्य की जीवन-नैया खेने के लिए राष्ट्र की अपेक्षा व्यक्ति विशेष की सृजनशक्ति, सजगता और महानता को ही मैं बहुत उपयोगी समझता हूँ।

सामरिक अस्त्र-शस्त्र की प्रतिद्वंद्विता से मुझे घृणा है। कोई मनुष्य नगाड़े की ताल के साथ-साथ है-इसकी कल्पना करते ही मुझे उससे घृणा होने लगती है। शीघ्राति-शीघ्र युद्ध दूर होना चाहिए, क्योंकि युद्ध अति निकृष्ट वस्तु है। कोई मेरे शरीर को काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दे, यह तो मुझे स्वीकार है; परंतु युद्ध-जैसी घृणास्पद चीज में मैं लिप्त नहीं हो सकता।

इन सब अमानवीय बातों के होते हुए भी मानव-जाति के भविष्य के सम्बन्ध में मैं आशावादी हूँ। मेरा विश्वास है कि, राजनीतिक व व्यापारिक स्वार्थ लोलुपों द्वारा यदि जन-साधारण की निर्मल बुद्धि को विद्यालयों और अखबारों के माध्यम से निरंतर कलुषित न किया जाता, तो युद्ध नामक अभिशाप पहले ही विलुप्त हो जाता।

ईश्वरास्था की अनुभूति ही मनुष्य की श्रेष्ठतम अनुभूति है। इस अनुभूति में ही शिल्प, कला और विज्ञान का बीज निहित है। जो इस रहस्यानुभूति द्वारा अभिभूत नहीं होते वे मृतप्राय हैं। रहस्य धर्म का मूल है। विश्वास और मनुष्य की अंतरतम चेतना एवं उज्वलता सौंदर्य के विकास-सम्बन्ध की अनुभूति ही वास्तव में धार्मिक मनोवृत्ति है। मैं इसी माने में एक निष्ठा-परायण धार्मिक मनुष्य हूँ। मैं उस ईश्वर की कल्पना नहीं कर सकता, जो स्व-निर्मित जीवों को दंड देता है अथवा उन्हें पुरस्कृत करता है। कोई मनुष्य देहावसान के उपरांत भी जीवित रह सकता है, ऐसा मैं नहीं मानता। यह अवैज्ञानिक विश्वास दुर्बल-चित्त व्यक्तियों ने फैलाये हैं।

अनंत जीवन-जिज्ञासा, सृष्टि का मूल स्रोत एवं विश्वव्यापी अखंड-चेतना जैसे गूढ़ सत्य यदि मुझे किंचित मात्र भी उपलब्ध हों, तो मैं अपने जीवन को सफल मानूँगा।

□

माँ मुझे मनुष्य बना दो : हे वीर, साहस का आश्रय लो। गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी-सब मेरे भाई हैं; तुम भी केवल कमर में ही कपड़ा लपेट गर्व से पुकार कर कहो कि भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देव-देवियों मेरे ईश्वर हैं, भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, जवानी की फुलवारी और मेरे बुढ़ापे की काशी है। भाई बोलो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है, और रात-दिन कहते रहो-“हे गौरीनाथ। हे जगदम्बे। मुझे मनुष्यत्व दो, माँ। मेरी दुर्बलता और का पुरुषता दूर कर दो। माँ मुझे मनुष्य बना दो।

-स्वामी विवेकानन्द

चन्द्रशेखर आजाद की जयन्ती के अवसर पर
२३ जुलाई १९०६ - २७ फरवरी, १९३१

माता कुमाता न भवति

- कमल मालवीय

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के इतिहास का प्रारम्भ 1857 की क्रांति से ही माना जाता है। उत्तर प्रदेश का सौभाग्य रहा कि उसने इस युद्ध की वेदी में रामप्रसाद बिस्मिल और महान् क्रांतिकारी पं. चन्द्रशेखर आजाद को दिया। नवयुवकों को दासता की बेड़ियों को काटने के लिए इस क्रांति ने प्रेरणा प्रदान की, अनेक वीर सपूत इस यज्ञ को सफल बनाने के लिए मैदान में उतरे। चन्द्रशेखर आजाद ने अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों से अंग्रेज सरकार की नींद उड़ा दी थी। सरकार ने उन्हें गिरफ्तार करने के लिए रात दिन एक कर दिया परन्तु गिरफ्तार नहीं कर सके।

ब्रिटिश सरकार ने क्रांतिकारी चन्द्रशेखर को पकड़वाने के लिए पांच हजार रूपये का इनाम घोषित किया हुआ था। आजाद और पुलिस के बीच लुका-छिपी का खेल चल रहा था। इस समय वे काफी परेशान थे क्योंकि पार्टी का पैसा उन्हीं के पास था और उसे सुरक्षित पहुंचाना उनका दायित्व था। वे भूखे प्यासे इधर से उधर भटक रहे थे। बरसात की रात थी। यह घटना उसी समय की है।

उस बरसाती रात को भटकते हुए, असंमजस की स्थिति में वे एक घर के सामने खड़े हो गए। दरवाजा खटखटाया तो एक वृद्धा ने अपनी पुत्री के साथ आकर दरवाजा खोला। आजाद ने कहा “मैया! आज मुझे गिरफ्तार करवा देगी क्या? मैं कोई चोर, डाकू नहीं आजाद हूँ। भारत माता की बेड़ियों को तोड़ने का स्वप्न देखने वाला चन्द्रशेखर आजाद। जैसे भी हो आज की रात तुम्हारे यहाँ छिपकर रहना चाहता हूँ।”

वृद्धा की आखें चन्द्रशेखर का नाम सुनते ही चमक उठीं। वे खुश हो गयीं, आजाद को छाती से लगा कर बेटे की तरह दुलारा, बहुत आशीष दी एवं उनसे हाथ-मुंह धो लेने के लिए कहा।

चन्द्रशेखर कुछ समय बाद, तैयार होकर आए, तब अम्मा ने बिटिया से कहा-“बेटी! आज तेरा भैया आया है, जल्दी से भोजन परोस दे, ना जाने कब से भूखा होगा। जरा खाना जल्दी परोसना।” जब बिटिया खाना परोसकर ले आई तब आजाद ने बातों ही बातों में पूछ लिया कि “भैया ! हमारे जीजा जी किस गांव के हैं, उनका अता-पता दे दो तो मैं उनसे भी भेंट कर लूँगा।”

अम्मा ने निराशा भरे शब्दों में कहा, “बेटा ! गरीबों का तो भगवान ही है। अभी तो दहेज जुटा रही हूँ। जब पूरा हो जाएगा तभी तेरी बहन के हाथ पीले कर दूंगी। हां, यदि यह जीवन रहा तो कभी न कभी तेरे बहनोई से तुझे जरूर मिलाऊंगी।”

इस पर चन्द्रशेखर ने कहा, “अम्मा ! एक काम करो, मुझे रात को यहां शरण देकर तुमने क्रांतिकारियों पर बड़ा उपकार किया है। मैं एक उपाय बताता हूँ। यदि तुम इसे मान लोगी तो सारी समस्याओं का हल एक पल में हो जाएगा और बहन के हाथ भी पीले हो जाएंगे।” बड़ी बेताबी से अम्मा ने पूछा, “बेटा ! आखिर वह उपाय क्या है?”

आज़ाद ने कहा, “अम्मा सरकार ने मेरी गिरफ्तारी के लिए पांच हजार रूपये का इनाम घोषित किया है। कल आप मेरे पास की रकम मेरे किसी क्रांतिकारी मित्र के पास पहुंचाकर मुझको पुलिस के हवाले करा दो। इनाम की रकम से बिटिया की शादी हो जाएगी।”

अम्मा ने यह सुनने के बाद कहा—“अरे बेटा! पांच हजार तो क्या पांच लाख भी मुझे मिले तो भी मैं ऐसी गद्दारी नहीं कर सकती। फिर तुम्हें तो मैंने अपना बेटा बना लिया है। बेटा कपूत हो सकता है, पर माता कभी कुमाता नहीं हो सकती है।” आज़ाद सारी रात बहन की शादी के धन की व्यवस्था और सहायता के बारे में सोचते रहे।

दूसरे दिन प्रातःकाल जब मां बेटी उठी, तब उन्होंने देखा कि खटिया पर आज़ाद नहीं और वहां पर रूपयों का ढेर लगा हुआ था। साथ ही एक छोटा सा पत्र भी रखा हुआ था। अम्मा ने उठाकर पढ़ा तो हैरान हो गयी, आज़ाद ने लिखा था:-

आदरणीय अम्मा जी !

मुझे दुख है कि आपने मेरा अच्छा प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया। आपकी मर्जी, पर अब आपकी नहीं मेरी चलेगी। इस पत्र के साथ थोड़े से रूपये हैं। जितनी जल्दी हो सके, मेरी बहिन की शादी कर देना। चाहता तो हूँ कि मैं उस अवसर पर बहन के पास रहूँ, पर क्या पता कहां रहूँ?

आपका बेटा
चन्द्रशेखर आज़ाद

मां-बेटी की आंखों से आंसू निकल पड़े। इन पैसों से अम्मा ने बिटिया की शादी कर दी पर बहन अपने भाई के दर्शन कभी नहीं कर पाई।

चन्द्रशेखर के जीवन की इस घटना से उनकी सहृदयता, भाई बहन का निश्छल प्रेम, तथा मां-बेटे के अटूट रिश्ते की एक झलक मिलती है। आज के नवयुवकों के लिये आज़ाद वास्तव में ही एक आदर्श थे।

□

‘भारत भारती’ के शताब्दी वर्ष पर विशेष....

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का साहित्यिक प्रदेय

- डॉ० सत्यकाम पहारिया

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपने साहित्य-सृजन में केवल अतीत का ही गुणगान नहीं किया बल्कि समाज को ‘राष्ट्र देवो भव’ का मूर्तरूप देने के लिए कृत संकल्पित रहे हैं। आपकी रचनाओं का समग्र रचना-संसार राष्ट्रीयता और भारतीय संस्कृति की युगबोध चेतना से आप्लावित है। गुप्त जी का कवि-कर्म पराधीन भारत को स्वतंत्र कराने के लिए आन्दोलित करता रहा है। गुप्त जी ने भारत के ‘विश्व-गुरु’ पद का स्मरण कराते हुए वर्तमान के पराधीन भारत की दुर्दशा से अत्यन्त विशुद्ध होकर राष्ट्र-जागरण का ‘राष्ट्र देवो भव’ को साकार करने का सार्थक प्रयास किया है। वैसे तो राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अपनी संवेदना को काव्य के विविध रूपों में प्रखर काव्य क्षमता के साथ व्यक्त करते रहे हैं। फिर भी आप काव्य की समस्त विधाओं पर पहले ब्रज भाषा पश्चात् खड़ी बोली में लिखकर मध्यकालीन युग के द्विवेदी युग के सगुणमार्गी कवियों की परम्परा के सशक्त कवि रहे हैं।

मां भारती के अमर गायक, ‘भारत भारती’ के ख्याति प्राप्त रचनाकार, स्वतन्त्रता संग्राम को अपने विचारों से उद्वेलित करने वाले, विभिन्न धर्मों के एकात्मक स्वरूप को मानवता में परिणित करने वाले, राम भक्त से राष्ट्र भक्ति की अलख जगाने वाले व्यक्तित्व का नाम है राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त।

गांधी जी के संपर्क में आने से पूर्व ही आपकी साहित्यिक सर्जना राम-भक्ति से राष्ट्र-भक्ति की ओर उन्मुख हुई। आपकी ‘भारत भारती’ ने जन-जागरण का शंखनाद किया और आपकी कृतियां क्रान्तिकारियों के लिए प्रेरणा स्रोत बनीं। महात्मा गांधी ने ‘भारत भारती’ की राष्ट्रीय भावनाओं को दृष्टिगत रखते हुए आपको ‘राष्ट्रकवि’ कहे जाने का गौरव प्रदान किया। भारत सरकार ने आपको सम्मानित करते हुए राज्य सभा में दो बार सम्मिलित करके अपने को अनुगृहीत किया। आगरा विश्वविद्यालय ने आपको डी.लिट्. की मानद उपाधि प्रदान की तथा भारत सरकार ने ‘पद्म भूषण’ उपाधि से अलंकृत किया। ‘राष्ट्र देवो भव’ को काव्य के माध्यम से उद्घोषित करने वाले श्री मैथिलीशरण गुप्त देशप्रेमी व हिन्दी के शिखर कवि रहे हैं।

बुन्देलखण्ड की वीर प्रसवनी भूमि में झांसी जनपद के चिरगांव नगर में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का जन्म 3 अगस्त 1886 को गहोई वैश्य समाज के वैष्णव परिवार में हुआ था। आपके पूज्य पिता रामचरण कनकने स्वयं भक्ति भाव की कवितायें 'कनकलता' नाम से लिखते रहे। काव्य-सृजन के साथ-साथ स्वदेशानुराग की भावना गुप्त जी को अपने पिता से विरासत में मिली थी। इसीलिए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के हृदय में स्वदेशानुराग के भाव का संचरण हुआ और राष्ट्र देवता के मन्दिर में राष्ट्र-भक्ति से संपृक्त होकर कवि-कर्म के रचना-संसार में राष्ट्रभक्ति से सुरभित काव्य-ग्रन्थों की माला गूँथ कर 'राष्ट्र देवो भव' का भाव जगाने में समर्थ रहा। यही कारण रहा कि कवि मैथिलीशरण गुप्त द्वारा निसृत रसधार से जन-जीवन उद्वेलित होकर राष्ट्र को पराधीनता की मेखला से उन्मुक्त कराने में समर्थ हो सका। गुप्त जी का साहित्यिक प्रदेय उनकी रचनाओं से आज भी भारत के अतीत का वह चित्र प्रस्तुत करता है जिसे पढ़कर हर भारतवासी का सिर गौरव से उन्नत हो उठता है। लेकिन पराधीन काल की विद्रूपतायें और विसंगतियां तथा सामाजिक कुरीतियां कवि हृदय को झंकृत करती रहीं। राष्ट्रकवि का नारी के प्रति उदार दृष्टिकोण, उपेक्षित और प्रताड़ना से पीड़ित नारी को सम्मान अधिकार दिलाने का पुरजोर प्रयास हर नारी पात्र के साथ न्याय किया गया है फिर चाहे 'साकेत' की अधिष्ठाया उर्मिला हो, यशोधरा, विष्णुप्रिया, विधुता, जयिनि या मीलनदे हो, सभी के साथ न्याय का पक्ष लेते हुए तात्त्विक अन्वेषण कर उसे समाज में सम्मानजनक स्थान तक पहुंचाया है। भारतीय नारी की मर्यादा को प्रतिष्ठापित करते हुए गुप्त जी ने सर्वांगपूर्ण अभिव्यक्ति दी है-

“स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला, नाम है उसका उचित ही उर्मिला।”

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त रामभक्त वैष्णव कवि, अपने पिता से मिले संस्कारों से ढले और देशभक्त-कवि के रूप में अपने सम सामायिक परिस्थिति जन्य बने। उनका समग्र रचना-संसार काव्य-भाषा के विकास हेतु खड़ी बोली में हुआ है। काव्य के साथ-साथ गुप्तजी ने पद्य में भी रचनायें की हैं और पुस्तक समीक्षाएं भी लिखी हैं। उनकी गद्य रचनायें भी देश-प्रेम की भावनाओं से आपूरित हैं।

सैकड़ों शोधार्थियों ने आपकी रचनाओं पर शोध प्रबन्ध प्रस्तुत किए हैं। भारतीय संस्कृति की पुनर्स्थापना, नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना नारियों को यथेष्ट सम्मान दिलाना तथा देश की भावी पीढ़ी के लिए साहित्य-सृजन करना गुप्त जी का अभीष्ट रहा है। आपने साकेत, यशोधरा, सिद्धराज, कुणाल आदि 35 श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना की। अनेक गीति काव्य लिखे और लगभग नौ ग्रन्थों को अनुदित किया। रामभक्त कवि के रूप में समादृत श्री मैथिलीशरण गुप्त जी ने बाल-साहित्य की भी रचनाएं की हैं।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त 'दद्दा' के नाम से विश्रुत होकर 12 दिसम्बर 1964 को चिरगांव में ही साकेतवासी हुए।

□

उभरते भारत के विकास की गारंटी-युवा शक्ति

- सुरेश चंद्र खत्री

विकासशील देश एवं अर्थव्यवस्था के मूल में मानव-संसाधन का महत्व सर्व-विदित है, जिसमें सर्वाधिक उपयोग, देश के युवाओं द्वारा ही प्रदत्त होता है। हमारे सपनों का उभरता भारत निःसन्देह अपनी युवा-शक्ति पर पूर्ण भरोसा एवं विश्वास करता है। आज सम्पूर्ण विश्व में, भारत के सर्वोत्कृष्ट एवं सभी देशों से कहीं अधिक युवा-शक्ति उपलब्ध होने पर, हमारे दिग्गज, आर्थिक/वित्तीय विचारक एवं सलाहकारों का यह कथन, अक्षरशः सत्य/व्यवहारिक प्रतीत होता है, “कि वर्तमान में तमाम अवरोधों के बावजूद, भारत के विकास आधार सुदृढ़ हैं, क्योंकि जनसंख्या की 60% से अधिक युवा-शक्ति, सभी क्षेत्रों में कीर्तिमान स्थापित कर रही हैं। विकसित देश अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस इत्यादि का भारत की ओर तीव्र आकर्षण है, उसके युवा, जो परिमाण एवं गुणवत्ता दोनों ही पहलुओं पर, विश्व में श्रेष्ठतम माने जाते हैं।

देश की प्रगति/उन्नति में हमारी युवा शक्ति, बेटा या बेटियां, दोनों का ही पारस्परिक सम-तुल्य योगदान है, लिंग भेद-भाव एवं पूर्व-कल्पित भ्रामक धारणाएं निरर्थक हैं, ताकि मानवीय संसाधनों का पूर्ण रूपेण योगदान देश के विकास की धारा में समेकित विकास हेतु अग्रसर हो सके।

भारतीय अर्थ व्यवस्था एवं सर्वांगीण विकास

दुर्भाग्यवश, भारत में पिछले दो दशक पूर्व (1991) में प्रारंभ हुई, दूर-संचार एवं तकनीकी क्रान्ति ने, विशिष्ट रूप से, टी.वी. कम्प्यूटर, डिजिटल टेक, (इलेक्ट्रॉनिक मीडिया) ने पाश्चात्य रंग-रूप का आवेश खासतौर से छात्र वर्ग (छात्र एवं छात्रा) पर दूरगामी घातक प्रभाव से दिग्भ्रमित कर दिया है। इस संक्रमण काल में, विकास की अभेदनीय चहुँमुखी प्रगति के मध्य, हमारे नीति-नियंता, अभिभावक-गण एवं समस्त विचारशील बुद्धिजीवियों को ध्यान देना होगा, कि हमारे बालक/बालिका, प्रारम्भ से ही अपनी भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के आधार पर ही, शिक्षा, व्यवहारिक एवं तकनीक ज्ञान का मूल्यांकन/ग्राहता स्वीकार करें। बाजारवाद एवं मात्र मुद्रा लाभ से बचते हुए, स्व-नैतिक, चारित्रिक एवं अभिन्न सामाजिक मूल्यों के धरातल को नजर अन्दाज नहीं करें।

विश्व ने देख लिया, कि अमेरिका एवं यूरोप की उपभोग-वादी प्रवृत्तियों के फलस्वरूप, न केवल, उनकी अर्थ-व्यवस्था बिगड़ी बल्कि सामाजिक आधार डगमगाए। वर्ष 2008-09 का वैश्विक आर्थिक संकट एवं दुष्परिणाम भुगते जा रहे हैं। वर्ष 2010-11 के युरोपियन जोन के आर्थिक संकट, अरब देशों में जन-क्रान्ति/विद्रोह एवं वालस्ट्रीट न्यूयार्क में युवाओं द्वारा लगातार सड़कों पर प्रदर्शन, ये सब कुछ युवा बेरोजगारी, घोर महंगाई एवं शासकीय भ्रष्टाचार के कारण दिखाई पड़ा है। इसी सन्दर्भ में हम सभी को यह शिक्षा ग्रहण करनी है, कि देश के आगे जाने की दिशा में, हम सभी दीर्घकालीन, नैतिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय मूल्यों को सुदृढ़ करते हुए हैं, बढ़ें ! इस सम्बन्ध में निम्नलिखित घटकों की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

1. प्रारंभ से ही निरन्तर माता-पिता, संरक्षक/अभिभावक-गण एवं शिक्षक भी बच्चों, युवाओं को नैतिक, चारित्रिक एवं सामाजिक/राष्ट्रीय मूल्यों का महत्व बताएं, सभी बालक/बालिका, स्व. निरीक्षण भी करते रहें, यह दृष्टिकोण मन एवं मस्तिष्क में, यदि युवा समझ लें, तो भविष्य स्वयमेव परिपूर्ण निखरेगा।

2. सभी बच्चों की प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा की बुनियादी जड़ें मजबूत नींव पर आधारित हो, यथा हिन्दी, गणित एवं अंग्रेजी का सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक ज्ञान।

3. चकाचौंध के भ्रामक संसार में शिक्षा का उद्देश्य, नौकरी वास्ते न होकर, स्वावलम्बन विकसित होना बने, जो कि बच्चों की अभिरुचि एवं सम्भाव्य ऊर्जा पर टिके। बच्चे/युवा, स्वयं अपना कार्य क्षेत्र सोचें एवं समझे, प्रारम्भ से ही ऐसी भावना केवल माता-पिता ही, जगा सकते हैं। परिणामतः युवा फिर समाज पर बोझ नहीं बनते हैं, भविष्य स्वयमेव सुदृढ़ होता है।

4. भारतीय धर्म-संस्कृति एवं सदाचार सदैव बालकाल से सृजित होता रहे, आज के माता-पिता पढ़े-लिखे हैं, उन्हीं का योगदान युवा-शक्ति के राष्ट्रीय मूल्यों को आगे बढ़ा सकता है।

5. स्वदेशी एवं ज्ञान मूलक समाज हेतु मौलिक सोच नितान्त आवश्यक है, इसका प्रचार एवं प्रसार करें, क्योंकि ज्ञान किसी की बपौती नहीं है।

उपरोक्त रण-नीति के परिप्रेक्ष्य में निम्न बातों पर माता-पिता, अभिभावक, शिक्षक एवं संरक्षक को ध्यान देना होगा :-

L बाल्यकाल, शैशवकाल एवं युवाकाल, तक निरन्तर हिन्दी, अंकगणित एवं अंग्रेजी की बुनियादी शिक्षा का ग्रहण सतत रूप से होता रहे।

L पढ़ते रहना

L लिखते रहना

L अंकगणित अभ्यास

इनमें यदि बच्चा पक्का हो गया, दुनिया की कोई ताकत, उसे आगे बढ़ने से नहीं रोक सकती है।

प्रारम्भ से, उपरोक्त फारमूलों द्वारा बच्चे (लड़का या लड़की) पढ़ें, फिर लिखें (पढ़ा हुआ लिखने से व्यक्तित्व स्पष्ट होता है) और लोगों के समक्ष, अपने विचारों को सुदृढ़ता से प्रस्तुत करें, इन तीनों के समावेश से हम अपने बालक/बालिकाओं को देश के कर्णधार बनाने में सहयोग करते हैं। शिक्षक, अभिभावक यदि इस ओर निरन्तर ध्यान दें तो हमारी युवा-शक्ति की बेजोड़ ताकत, विश्व के सामने उभरते भारत की कीर्तिमान तस्वीर प्रस्तुत करेगी उसमें कोई सन्देह नहीं है।

सतत् अध्ययन, सतत लिखना एवं सतत बोलते रहना, कारण, जब तक पढ़ेंगे नहीं, तो लिखेंगे क्या, फिर अगर पढ़कर लिखेंगे नहीं, तो बोलेगें क्या?

बेटा या बेटी, स्वयं अपना जीवन उद्देश्य निश्चित करें, माता-पिता शिक्षक उसमें सहायक बनें, न कि थोपने वाला काम करें।

ज्ञानार्जन एक सतत् प्रक्रिया है, जिज्ञासा एवं अभिरुचि द्वारा संसार का असीमित ज्ञान देखा, समझा एवं सोचा जा सकता है।

ज्ञान संवर्धन एक निरन्तर प्रक्रिया है, कोई सीधा एवं सरल उपाय नहीं है।

अन्त में संक्षिप्त रूप से कहा जाए - सभी बालक/बालिका अपने-अपने प्रयत्न करें, प्रयत्न से ही ऊर्जा एवं शक्ति उत्पन्न होती है, आत्म-विश्वास जाग्रत होता है जो आपकी मंजिल तक साथ-साथ रहता है।

प्रयत्न : पढ़ना, लिखना और बोलना - स्वयं का आकलन Self Introspection करते रहे।

ईश्वर भी उन्हीं की सहायता हेतु प्रतिबद्ध है जो स्वयं अपना रास्ता खोजते हैं।

प्रयत्न, प्रार्थना एवं प्रतीक्षा - यह तीनों मानव जीवन (जिसमें युवा-शक्ति भी सम्मिलित है) के मूल आधार-स्तम्भ हैं, जिसके बल पर आप अग्रसर होने में सफल होंगे।

९

संचार माध्यमों पर एकाधिकार के खतरे

- राजेन्द्र कुमार

स्वस्थ लोकतंत्र के लिए बहुलतावादी और विविधतापूर्ण संचार माध्यम नितांत आवश्यक है। असहमति का साहस और सहमति का विवेक लोकतंत्र की बुनियादी शर्तें हैं। इसके लिए आवश्यक है कि सूचना माध्यमों पर किसी विशेष तबके, विचार समूह या भाषा का एकाधिकार न हो।

अब देखना यह है कि भारतीय मीडिया इस कसौटी पर कहां तक खरा उतरता है। सूचना तंत्र के दो माध्यम हैं-प्रिन्ट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया प्रिन्ट मीडिया का इतिहास बहुत पुराना है। प्रारम्भ से ही इसे काफी हद तक स्वतंत्र माना जाता रहा है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के दो माध्यम हैं-रेडियो एवं टी.वी। रेडियो प्रारम्भ से ही पूर्ण रूप से सरकारी नियंत्रण में रहा है और अब भी है। निजी रेडियो कम्पनियों का प्रसारण दायरा सीमित है। तथा सरकार ने उन्हें समाचार प्रसारण की अनुमति भी नहीं दी है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर भी आरम्भिक काल में सरकार का नियंत्रण था। इन परिस्थितियों में भारतीय लोकतंत्र की गहराई मापने का सबसे उपर्युक्त माध्यम प्रिन्ट मीडिया ही है।

समाचार पंजीयक की 2007 की रिपोर्ट के अनुसार इस समय देश में 22 भाषाओं के 60,000 से अधिक समाचार पत्र और पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही हैं। इनमें से 6800 दैनिक समाचार पत्र हैं। इन आँकड़ों को देखने से लगता है कि देश के समाचार पत्र उद्योग में पर्याप्त विविधता है। किन्तु सच्चाई कुछ और ही है। वास्तव में 55 प्रतिशत पाठक संख्या और 78 प्रतिशत राजस्व पर 15 बड़े समाचार पत्र समूह का कब्जा है। उदाहरण के लिए बैनेट कोलमैन कम्पनी टाइम्स आफ इंडिया, इकनॉमिक टाइम्स, नवभारत टाइम्स आदि अंग्रेजी तथा हिन्दी के 6 अखबार चला रही है। ये सभी समाचार पत्र अपने अपने क्षेत्र में शीर्ष पर हैं। इनके अलावा इसकी सहयोगी कम्पनियां रेडियो मिर्ची चलाने के अतिरिक्त छै पत्रिकाएं प्रकाशित कर रही हैं तथा ये सभी अपने अपने क्षेत्र में शीर्ष पर हैं। इसी प्रकार जागरण समूह दैनिक जागरण और अन्य कई अखबारों के साथ एफ एम चैनल चला रहा है। कई वर्षों से इसकी पाठक संख्या समाचार पत्रों में सबसे अधिक रही है। इंडियन रीडरशिप सर्वे के अनुसार 5.6 करोड़ पाठक संख्या के साथ 2011 की चौथी तिमाही में दैनिक जागरण ने सभी समाचार पत्रों को बहुत पीछे छोड़ दिया है। दूसरे नम्बर पर रहे समाचार पत्र की पाठक संख्या इससे 1.8 करोड़ कम थी। इनाडु समूह भी भारतीय भाषाओं का समाचार

मीडिया साम्राज्य खड़ा कर चुका है। इन मीडिया कम्पनी के मालिकों ने परम्परागत अखबार के अलावा मीडिया के अन्य माध्यमों पर ही कब्जा नहीं किया वरन अब उद्योग के अन्य क्षेत्र, सीमेन्ट, चीनी मिल आदि पर भी हाथ आजमाना शुरू कर दिया है।

सूचना तंत्र के एकाधिकार के सिमटते दायरे को समझने के लिए अमेरिका के मीडिया पर एक दृष्टि डालना उचित होगा मीडिया विशेषज्ञ बेन बैगडिकियन द्वारा किये गये अनुसंधान से यह बात प्रकाश में आई कि 1982 में अमेरिका में आधे से अधिक मीडिया उद्योग पर 50 मीडिया समूहों का अधिकार था जो दिसम्बर 1986 में 29, 1992 में 14, 2000 में 6 और 2004 में घटकर केवल 5 शेष बचे।

अब प्रश्न यह उठता है कि सूचना तंत्र के इस बढ़ते हुए एकाधिकार से लोगों को क्यों आपत्ति होनी चाहिए। यह कहा जाता है कि मीडिया वही लिखता है, वही दिखाता और सुनाता है जो जनता पसन्द करती है। पाठक या दर्शक की इच्छा का ध्यान न रखने पर प्रिन्ट मीडिया की पाठक संख्या कम हो जाती है एवं इलेक्ट्रिक मीडिया का टी आर पी नीचे गिर जाता है। किन्तु सच्चाई कुछ और ही है। विश्व भर के समाज शास्त्री यह मानते हैं कि समाचार माध्यमों का जन मानस की विचारधारा एवं कार्य कलाप पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। तात्पर्य यह कि जनता वही देखना सुनना पसन्द करने लगती है जिसके बारे में जिस रूप में समाचार माध्यमों में चर्चा की जाती है।

इस बात को कुछ उदाहरणों से आसानी से समझा जा सकता है। अमेरिका सोयाबीन का सबसे बड़ा उत्पादक देश है। सोयाबीन के बीज उद्योग पर भी उसका एकाधिकार है। यही कम्पनियां मीडिया के जरिये सोयाबीन का प्रचार-प्रसार करने लगीं। समाचार पत्रों में विशेष लेख और कालम छपने लगे। चैनल सोयाबीन की तारीफ में बुलेटिन देने लगे। मीडिया कम्पनियों के सहयोग से कृषि विशेषज्ञों का एक ऐसा समूह तैयार किया गया जिसने यह साबित करना शुरू किया कि खेती के घटते मुनाफे से लेकर दिल की बीमारी तक सभी समस्याओं का समाधान सोयाबीन है। निवेश सलाहकारों ने भी सोयाबीन पर निवेश करने की वकालत करनी शुरू कर दी। परिणाम हमारे सामने है। आज जनता न केवल सोयाबीन पर लेख पढ़ने और चैनलों द्वारा प्रसारित बुलेटिन देखने में रूचि लेने लगी वरन् सोयाबीन का तेल, आटा, बड़ी, दूध तथा पनीर को अपने जीवन का अभिन्न अंग बनाकर सोयाबीन कम्पनियों की जेबें भी भरने लगीं।

दूसरा उदाहरण है एड्स का प्रचार अभियान। आज देश में कुपोषण, प्रसव सुविधाओं के अभाव में महिलाओं की मृत्यु, टी.बी., हैजा, कैंसर आदि जान लेवा

बीमारियों की समस्याएं हैं, किन्तु मीडिया ने एड्स को राष्ट्रीय मुद्दा बना दिया है। बिना इस बात का पता लगाए कि भारत जैसे देश में एड्स फैलने के क्या कारण हैं और इसे कैसे रोका जा सकता है, मीडिया की सलाह पर सरकार कॉलेज के विद्यार्थियों को निरोध बाटने पर विचार करने लगी।

यह एक सार्वभौमिक सत्य है कि जब भी कोई शक्ति केन्द्रित होकर एक व्यक्ति या समूह के पास आ जाती है तो उसका दुरुपयोग होने लगता है। तानाशाही शासनतंत्र इसका उदाहरण है। इसी प्रकार मीडिया में भी जब शक्ति केन्द्रित होने लगती है तो उसके दुरुपयोग शुरू हो जाते हैं।

मीडिया का प्रधान कर्तव्य जन साधारण को सही समाचारों से अवगत कराना एवं उसके समक्ष किसी समस्या तथा उसके समाधान के विषय में विभिन्न विचारों को प्रस्तुत करना है जिससे नीति निर्माताओं को नीति निर्धारण में सही मार्ग दर्शन मिल सके। इस प्रकार मीडिया का सामाजिक उत्तरदायित्व भी है जिससे वह बच नहीं सकता। मीडिया पर एकाधिकार की अवस्था में इस उत्तरदायित्व का निर्वहन नहीं हो पाता।

इस सम्बन्ध में दो बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है। पहला यह कि बढ़ते एकाधिकार के लिए कौन से तत्व उत्तरदायी हैं एवं दूसरा इससे किस प्रकार की हानि की सम्भावनाएं हैं। यह सर्वविदित है कि किसी भी कार्य में पूंजी की भूमिका सबसे महत्त्वपूर्ण होती है। इस प्रकार किसी उद्योग के नियंत्रण में पूंजीपति का ही अधिकार होता है। आजकल यह अधिकार बड़े उद्योग समूहों के हाथों में आ गया है। अपने हित साधना में सबसे पहले इन उद्योग समूहों ने राजनैतिक व्यवस्था का वित्त पोषण करके उस पर अपना नियंत्रण बनाया। इसके बाद जन भावना का सहयोग प्राप्त करने के लिए उन्हें लगा कि मीडिया को भी प्रभावित करना जरूरी है। इसलिए वे अपने अपने अखबार और चैनल शुरू करने लगे। इसे यूं भी कह सकते हैं कि मीडिया कम्पनी के मालिक पत्रकारिता का लबादा ओढ़कर विभिन्न उद्योग धंधों में उतरने लगे हैं। उदाहरण के लिए दैनिक भास्कर को चलाने वाली कम्पनी डी.बी. कार्य लिमिटेड की अनुषंगी कम्पनी डी.बी. पावर ने छत्तीसगढ़ के धर्मजयगढ़ में आदिवासियों की 350 एकड़ जमीन का अधिग्रहण किया इसके विरुद्ध जब आदिवासियों ने आवाज उठानी चाही तो दैनिक भास्कर ने मालिकों की सेवा में उनकी आवाज को अनसुना कर दिया। इसी प्रकार बैनेट कोलमेन, राष्ट्रीय सहारा, दैनिक जागरण आदि ने भी विभिन्न उद्योग धंधों में हाथ आजमाना शुरू कर दिया है।

बढ़ते एकाधिकार से बहुलतावाद और विविधता की उस बुनियाद को खतरा है जिस पर लोकतंत्र की इमारत टिकी होती है। इससे अलग अलग विचारों को जगह

देने की सम्भावना कम होती जा रही है। एक उदाहरण से यह बात आसानी से समझ में आ सकती है। पिछले दिनों सरकार ने खुदरा क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफ. डी.आई.) की स्वीकृति का निर्णय लिया। विरोध हुआ। संसद में गतिरोध उत्पन्न हुआ। निर्णय को स्थगित करने तक संसद ठप रही। अखबारों में इस निवेश के समर्थकों के विचारों को लगभग 80 प्रतिशत जगह मिली जब कि विरोधियों को केवल बीस प्रतिशत से भी कम सम्पादकीय लिखे गये। कारण केवल एक था। बड़े उद्योग घरानों को होने वाला लाभ। इस बात से किसी को सरोकार नहीं कि बड़ी संख्या में छोटे उद्योग चलाने वालों के बेरोजगार होने पर सामाजिक अव्यवस्था फैल सकती है।

जन साधारण के विचारों को दिशा प्रदान करने की अपार क्षमता के कारण मीडिया का सामाजिक दायित्व अन्य संस्थाओं से अधिक हो जाता है। उसे रिपोर्टिंग करते समय सामान्य जन के हित का ध्यान रखना चाहिए। उदाहरण के लिए समाचार को चटपटा बनाने के लिए दंगे की ऐसी रिपोर्टिंग नहीं करनी चाहिए जिससे दंगा और भड़के। इसी प्रकार प्राकृतिक आपदाओं का समाचार देते समय केवल मरने वालों की संख्या के आंकड़े न देकर विपत्ति ग्रस्त लोगों की भौगोलिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति की भी जानकारी देना जरूरी हो जिससे समय पर सहायता पहुंचाई जा सके।

एकाधिकार स्थापित होने पर अपने स्वार्थ साधना के लिए अधिक से अधिक विज्ञापन बटोरने की धुन में मालिकान अपने सामाजिक दायित्व को भूल जाते हैं। विज्ञापन लेना बुरा नहीं है क्योंकि यह अखबार या चैनल की आय का मुख्य साधन है। समस्या उस समय खड़ी होती है जब विज्ञापन मुख्य ध्येय हो जाता है। इसका परिणाम होता है चयनित खबरों पर फोकस और खास खबरों की अनदेखी।

बड़े मीडिया घरानों ने एकाधिकार एवं लाभ के ऐतिहासिक स्तर को न केवल स्वाभाविक वरन् जन्म सिद्ध अधिकार मान लिया है। अब उनसे लोकतांत्रिक आशाएं करना व्यर्थ है। यह भारतीय प्रजातंत्र के लिए खतरे की घंटी है। इसे रोकना होगा इसके लिए जरूरी है कि क्रास मीडिया ओनरशिप (एक साथ कई मीडिया प्लेटफोर्म का स्वामित्व) को लेकर नियम बने। यूरोप व अमेरिका में इसके लिए कानून है किन्तु भारत में अभी तक कोई नियमन नहीं है। इसके अलावा एकाधिकार के खतरे से बचने के दो रास्ते हैं। पहला मीडिया संगठन स्वयं अपने लिए दिशा निर्देशक सिद्धान्त निश्चित करके उसका पालन करें। यदि वे इसे करने में असमर्थ हैं तो सरकार को यह काम करना होगा। किन्तु डर यह है कि यदि सरकार ने कैंची उठाई तो मीडिया की आजादी के पंख भी कतरे जा सकते हैं। अतः मीडिया को तय करना है कि उसे क्या मंजूर है।

५

Holy Mother Saradamani Devi

(22nd December 1853 to 20th July 1920)



- Vijay Kumar Sharma

“I am the mother of the wicked, as I am the mother of the virtuous. Never fear whenever you are in distress, just say to yourself - I have a mother.”

Sarada Devi, the wife and spiritual consort of Shri Ramakrishna was reverentially addressed as the Holy Mother by the followers of Shri Ramkrishna. She played a very important role in the growth of the Ramakrishna Mission. Swami Vivekanand treated her as his Divine Mother and as a symbol of Shakti. He wrote to one of his fellow Sanyasins – “You have not yet understood of the wonderful significance of Mother’s life – none of you. But gradually you will know. Without Shakti there is no regeneration of the world. Why is it that our country is the weakest and most backward of all countries? Because Shakti is held in dishonour here. Mother has been born to revive that wonderful Shakti in India and making her the nucleus, once more the Gargis and Maitreys be born into this world”.

Sarada Devi was born in Jayarambati, a small village in West Bengal. Her parents Ramchandra Mukhopadhyaya and Syamasundari were poor and pious. Her father earned his living as a farmer and through the performance of priestly duties. It is said that Ramchandra and Syamasundari had visions and supernatural events foretelling the birth of a divine being as their daughter.

Sarada lived a simple life of an Indian village girl. She did not receive any formal education and helped her mother run a large household and looked after her younger brothers. During the terrible famine of 1864, Sarada worked ceaselessly as her family served to hungry people. She worshipped Kali and Lakshmi regularly and started meditating from an early age.

In May 1859 when she was barely 6 years old, Sarada was married to Ramakrishna – then known as Gadadhar Chattopadhyay. He was 23 then and was working as a priest in Dakshineswar Kali Temple, Calcutta. After the marriage she remained in her village and joined Ramakrishna at Dakshineswar in 1872.

At Dakshineswar, Sarada Devi stayed in a tiny room in the nahabat (music tower). By this time Ramakrishna had already

embraced the monastic life of a Sanyasin. The result was that the marriage was never consummated. Ramakrishna made to sit her in the seat of Goddess Kali and worshipped her as the Divine Mother. One day Sarada Mani asked him, “ How do you look on me “ ? He replied, “ The Mother who is in the Temple, The Mother who gave birth to this body and now resides in Nahabat – it is the same Mother. Truly, I always look upon you as a form of the blissful Divine Mother”.

According to a disciple of Shri Ramakrishna, Ramakrishna married Saradamani to show the world an ideal of a sexless marriage. He regarded Sarada as the incarnation of Divine Mother and addressed her as SreeMaa.

Sarada Devi's day began at 3 AM. After taking a bath in Ganga, she would practice Japa and meditation until day break. Ramakrishna taught her the sacred mantras and instructed her how to initiate people and guide them in spiritual life. Sarada Devi is regarded as Ramakrishna’s first disciple. Except for her hours of meditation, most of her time was spent in cooking for Ramakrishna and growing number of his devotees.

During Ramakrishna’s last days when he suffered from throat cancer, Sarada Devi played an important role in nursing him and preparing suitable food for him. After Shri Ramakrishna’s death in August 1886, when Sarada Devi tried to remove her bangles, she had a vision of Shri Ramakrishna in which he said, “I have not passed away, I have gone from one room to another.”

Narendra was the most beloved disciple of Shri Ramakrishna. It is said that after his death she had a vision regarding him and she saw him entering into the body of Narendra signifying that the master would henceforth work in and through his chief disciple. Hence she always cherished a special affection for Swami Vivekanand.

After Shri Ramakrishna’s death, she continued to play an important role in this movement and remained its spiritual guide for the next 34 years. She spent her final years in Calcutta. In the beginning of 1920, her health declined and she continued to suffer for the next 6 months. She died at 1:30 AM on July 20, 1920 and her body was cremated at Belur Math. Before her death, she gave her advice to the grief-stricken devotees, “But I tell you one thing – if you want peace of mind don’t find fault with others. Rather see your own faults. Learn to make the whole world your own. No one is a stranger my child, this whole world is your own”.

¶

Preserving Religious Diversity

- Atal Behari Vajpayee

The then Prime Minister, Shri Atal Behari Vajpayee delivered the keynote address at the World Congress for Preserving Religious Diversity at New Delhi on November 15, 2001. Among those present on the occasion were His Holiness Dalai Lama, founder of All India Movement for Seva, Swami Dayananda Saraswati and former President of India Shri R. Venkataraman.

I am happy to participate in the World Congress for Preserving Diversity and bringing about cooperation and harmony amongst all faiths in the world. I offer my warm welcome and greetings to the large number of religious representatives from far and near who are attending this meet.

At the outset, I must heartily congratulate Swami Dayananda Saraswati and our former President, Shri Venkataramanji, for this laudable initiative. As all of us know, recent global and regional developments have imparted added urgency and relevance to this effort.

At the very core of this familiar development is religious intolerance of the most extreme and violent kind. Be it the destruction of the historic Buddha statues at Bamiyan in Afghanistan, or the terrorist attacks on the United States of America on September 11, or the cross-border terrorism in Jammu & Kashmir for the past decade and more—a single common causative thread runs through them all.

And that is the irreligious mindset that rejects and abhors religious diversity. It does not believe in the principle of coexistence of diverse faiths and traditions, which constitute our common humanity. Representatives of this mindset do not show any respect for human life. They believe that their bigoted ends can justify the most diabolical means of terror - of killing innocent people in scores, in hundreds, even in thousands.

These terrorists take the name of God and religion, they call their campaign a "Holy War". But they do so only to excite sentiments and emotions and in a bid to mobilize wider support for their cause. In actual fact, they represent no religion. How can they, when the very essence of every religion is respect for human life, which is the highest creation of God; When every faith at its core preaches tolerance towards other faiths?

Rejection of diversity be it religious diversity, cultural diversity or intellectual diversity not only violates natural laws but it also goes against human nature. Uniformity is not acceptable either in God's non living creation or in His living creation. So how can it be acceptable to human beings, who are blessed by God with the power of inquiry and search, of doubt and independent investigation of reform and resynthesis.

There is unity in nature, but not uniformity. Nevertheless, even the realisation and acceptance of unity requires acceptance of diversity. History has shown that those who try to cast the various faiths and cultures and traditions around the world in the same uniform mould of their choice never succeeded in their endeavour. When they use violence to achieve their ends, their failure becomes even more certain.

Distinguished delegates yesterday we, in India, celebrated Diwali, the festival of lights. It celebrates the journey from darkness to light, of the victory of good over evil. All of us can rejoice in the current defeat of the Taliban in city after city in Afghanistan—a defeat which shows that the Afghan people's long-awaited journey from darkness to light has begun. May all of us send our best wishes and generous assistance to our brethren in Afghanistan for taking this victorious journey forward to early reconstruction and lasting peace.

Now that the world community has known the true face of terrorism and now that international cooperation against terror have been proved to yield desired results, such cooperation should be continued and further strengthened around the world.

Governmental and political leaders no doubt have their tasks cut out in this important mission. However, I believe that the world also needs a parallel and continuing international cooperation among leaders of various faiths and communities against extremism and terrorism.

These two efforts will supplement and complement each other.

Recognizing this, the Secretary General of the United Nations took the commendable initiative last year of organizing the first ever summit of religious leaders, coinciding with the Millennium Summit of the UN. I am happy that today's Congress in New Delhi represents a much needed follow-up step in that direction.

If we examine the tenets of all religions, we find that all of them without exception preach good conduct, virtue, selflessness, charity, kindness, compassion etc. They differ on theological principal, such as the nature of God; but all of them agree that humanity must follow a conduct, which is conducive to the existence of the harmonious society.

The Rig-Veda, which is the oldest scripture in the world, says:

*Akasath pathitham thoyam
Yatha gachhati Sagaram
Sarva deva namaskarah
Sri Kesavam prati gacchati*

Even as the drops of rain
Reaches the Ocean
Prayers to all deities
Reach the Supreme Being;

Similarly, the Holy Quran also preaches tolerance of other faiths in clear terms:

'For you your religion; And for me my religion'.

Therefore, as Mahatma Gandhi used to repeatedly emphasise, the most salutary rule for all people is to practice honestly, diligently and sincerely the tenets of their own religion. The principle of tolerance must be matched by non-intervention in other's religions and religious practices.

We, in India, are proud that our nation represents religious diversity of such antiquity and innate conviction is unparalleled anywhere in the world. We have all the religions of the world within our borders and we accord equal respect to all of them.

This secular principle of Sarva Pantha Samabhaav is not something that India borrowed from others after Independence. Rather, secularism has been a part of India's ethos for as long as India has existed. I must point out here that this principle of equal respect for all faiths works smoothly when it is accepted and practised by all. If some people do not do so, and try to strike their own separate path in order to show that they are different, it creates a reaction among others which does no good to social harmony.

From time immemorial India has practiced tolerance towards all religions. Addressing the Parliament of Religions at Chicago, more than a 100 years ago, Swami Vivekananda said "I am proud to belong to a nation which has sheltered the persecuted and the refugees of all religions and nations of the earth".

All of us in India share this pride.

Christianity came to India in the First Century A.D. but not with the East India Company. Islam came to India in the Seventh Century A.D., but not with Mohammed of Gazni. The renowned Islamic saint Khwajah Momuddin Chishti, born abroad, educated in Samarkand and Baghdad, which were then great seats of learning, ultimately came to India and settled in Delhi and Ajmer. His *makbara* or grave is even today visited by hundreds of thousands of Hindus and Muslims.

Similarly, many Muslim poets have sung songs in praise of Rama and Krishna.

These are not exceptions. In spite of many irreligious acts in the past, and in spite of the Partition of India on the specious Two-Nation Theory, all of India is even today dotted with similar symbols and traditions of inter-religious tolerance. We shall preserve and further strengthen this ethos, which I believe is also greatly needed by our interdependent world today.

With these words, I once again extend my best wishes to the Congress and hope that your deliberations will help the world move in the direction of the preservation of religious diversity and promotion of peace and harmonious co-existence of all religious communities in the world.

q

Role & Responsibility of Teachers in Building up Modern India

- Swami Ranganathananda

A teacher has to generate that energy in oneself and handle it in one's work of educating the boys and girls who appeal to him or her. A teacher has not only to instruct but also to inspire the students; he or she has to influence the life and character of his or her students, and equip them with ideas and values which will fit them to enter the stream of national life as worthy citizens. One has to do all these things during the years they are under one's influence in the school. You have to educate them on the need to recognize the equality of men and women in our democracy, to discard all caste exclusiveness and pride, untouchability, and communal distinctions and antagonisms, and to strengthen 'the dignity of the individual and the unity of the nation', as our Constitution proclaims.

The students must be educated to become the instruments to develop an integrated nation out of our diversities. They must be made acquainted with the noble humanistic sentiments of our Constitution and impressed with the passion to translate them into socio-political realities. Your students belong to the age-group when character can be formed and national attitudes developed. You have to develop, in your students, a high character-energy a pure national awareness, a firm democratic loyalty and a dedicated social responsibility. This must be done in the context of the teaching of the other curriculum subjects. It is here that a teacher's national responsibility finds expression.

The role of a teacher is to shape the minds of younger generation. That shaping will be on positive lines; development of a scientific and humanistic attitude and temper, self-discipline, concern for other people, an ecological awareness and concern, a firm conviction that democracy thrives on tolerance, and a firm commitment 'to break wits' and 'not to break heads'. To strengthen our democracy, teachers must instill into the students our ancient cultural spirit or tolerance of different opinions

and viewpoints, and acquaint them with the modern wisdom expressed in the dictum of the famous French thinker, Voltaire: 'I do not accept what you say; but I will defend with my life your right to say so.'

Whatever India will be in the next generation will depend upon what you do to your students today in the classrooms. You have to give them that sense of national loyalty and responsibility. You must help to remove from their minds whatever is negative and weakening in our past. Our past history gives us some good and some bad; we have to eliminate what is bad and strengthen what is good. Students must learn to discriminate between these two aspects of their national heritage. During education, our youth must be helped to identify and retain the positive elements and pass them on to the next generation after strengthening them with their own contributions.

□

सम्पर्क F सहयोग F संस्कार F सेवा F समर्पण

पढ़ें और पढ़ायें तथा भेंट करें

GYAN PRABHA

(QUARTERLY)

ज्ञान प्रभा

त्रैमासिक

27

त्रैमासिक ज्ञान प्रभा के
आजीवन सदस्य बनें।

सहयोग राशि वार्षिक
120/-
आजीवन 2000/-

स्वामी विवेकानन्द
150वीं जयन्ती
विशेषांक

Working With Difficult People

- **Claudia Cornwall**

Almost every workplace has them: They're rude; they rub others the wrong way; they're bullies. Here's how to handle them

"I don't have an goddamn time to deal with this right now! Figure it out yourself!" the accountant exploded. Kathleen Johnston was intimidated by her colleague's anger. Even more serious was that without his help, she couldn't get her job done. After being promoted to a management position in a nonprofit organization, she had to learn the complicated budget-tracking system. But whenever she asked the man who had created the system to explain it to her, he would curse and complain that he did not have time to deal with incompetent people.

Johnston agonized for months. Finally, she screwed up her courage and asked the accountant to lunch. She said she was eager to learn from him but was not prepared to be sworn at in the process. She promised to render him the respect due to his knowledge and position, but in return, she expected the same. To her great surprise, he readily agreed. From that day, they worked together without problems.

Another manager in an organization used a different strategy: avoidance. She confided, "If I felt I wasn't getting anywhere, I tended to end the conversation. I would say that I had what I needed or that I would call him back so that it wouldn't get more heated. I tried to contact him as little as possible."

Difficult bosses, co-workers or employees exist everywhere. Gerry Smith is vice-president of organizational health at a Canadian consulting firm that helps businesses become healthier and safer. "In any workplace," he says, "at one time or another, you will struggle with someone who is angry or hostile."

Difficult people can be just plain annoying or a more serious challenge-bullies. In Canada, growing concern about bullies in the workplace led to a new law in Quebec. It states that "every employee has a right to a work environment free from psychological harassment"-a rule that should be the norm everywhere.

Even if no such law protects you, there are strategies you can use to cope-using everything from confrontation to avoidance and anything in between.

Form a united front

A group of nurses found themselves working with an anaesthetist who was not only often angry with them but frequently embarrassed them by making raunchy remarks. The nurses were also concerned because he was rough with children who were crying or thrashing about as they came out of the anaesthetic. Although they reported him to their administrators, his behaviour did not change. So the nurses devised a creative solution.

Because they wore pink overalls, they called it a Code Pink. They tried to make sure the anaesthetist wasn't alone with patients or nurses. When witnesses were there, he kept his behaviour in check. Then one day, thinking himself unobserved, he picked up a child by grabbing his diaper and his hair. Three nurses acted quickly. They called over a doctor to corroborate their complaint, and as a result, the anaesthetist's hospital privileges were cancelled.

"If you all hang together, then it's not so hard to bell the cat," says Marilyn Noble, co-chairperson of a university team researching workplace violence and abuse.

Show them up.

Dr Graeme Cunningham, a noted Canadian physician, is heading an initiative to deal with difficult or "disruptive" doctors. One technique Dr Cunningham uses is to put together a drama that re-enacts the behaviour of the doctor, so he can see what all the fuss is about. "The doctor watches the person who is acting as him or her-shouting, swearing, threatening, throwing tools across a room. When they see their own behaviour played out-see what other people

see-they gain insight. And insight can bring change, says Cunningham.

Use humour.

Author Shaun Belding has written three books about dealing with difficult people at work. He says, "It's almost an unwritten rule: You can complain about your employees and you can whine about your boss. But when a co-worker is doing something frustrating, you may not want to complain because it comes across as you not being a team player."

Belding says humour is a great tool in situations like this. "I remember a guy who was always late-late for work, late for meetings, late for everything. His colleagues got together and bought him a cheap watch. They gave it to him saying, 'Yours apparently doesn't work.'" Mr Tardy got the message.

Be subtle.

Glain Roberts-McCabe, a managing partner with a management consultants firm, hired a woman who was very articulate, a student with multiple degrees. "In our business," says Roberts-McCabe, "speed is a requirement, but she didn't get back to people, didn't clear her voice mails at the end of the day. She was a slow-poke."

She also spent a lot of time on personal phone calls. Once, says Roberts McCabe, the woman had a pressing deadline, yet spent 20 minutes talking to a friend. "When I reminded her of the deadline, she had a panic attack." Roberts-McCabe sat down with her for a two-hour discussion, to ask things such as: When was the last time you were really excited about this job?

The woman thought about it and concluded that it would be best for her to leave. "We planned an exit strategy and she went back to college," says Roberts-McCabe.

Go to court.

Susan Morgan had been the beverage room manager at a pub for seven years. Things went smoothly until the pub owners hired a

new kitchen manager. He and Morgan began arguing about meals that the customers rejected. Morgan tended to side with the customers; the kitchen manager insisted that nothing was wrong. When Morgan disagreed with him, he yelled at her and even threw things—a pan and a kitchen pot. Once, when she complained about having to serve customers undersized chicken wings, he swore at her loudly enough that customers could hear, calling her names and telling her she was "nothing", "a nobody" and that she had "no say" in what was going on.

The kitchen manager was what Gary Namie, author of the *Bully at Work*, calls the Screaming Mimi—a person who "toxifies the workplace with mood swings and unpredictable displays of anger. Targets are publicly humiliated."

How to React to Difficult Co-Workers

According to consultant Gerry Smith and Shaun Belding, author of three books on dealing with difficult people at the office, how you handle the people described below can improve the quality of the work environment for everyone.

1. People who blame others, including you. Call them on it by saying. "Why is it always someone else's fault?" Chances are they'll laugh your comment off or become upset. Either reaction is evidence your point may have been taken.

2. People who take credit for your work or ideas. This can be difficult to prove, so put your name on any document you develop. If someone swipes your idea at a meeting, point it out straight away—using humour if possible. Later follow it up privately with the offender to tell him or her, "Don't do that again."

3. People who constantly interrupt. Don't put up with it. Say coolly but firmly, "Please wait while I finish."

4. People who embarrass you publicly. Put them on the hot seat by saying later, "I'm sure you didn't intend to embarrass me, but you did."

5. People who don't follow through. A co-worker cannot

hold another employee accountable, but you could try telling them their behaviour is frustrating and that you'll inform the boss if they don't start pulling their weight.

6. The office gossip who spreads rumours. Confront him or her directly when it's about you. Or enlist your boss, who can tell the gossip: "There are rumours going around, can I get you to straighten them out for me?"

q

Christianity to the European in his own place, Islam to the Arab and to the African and to the Tartar in their homelands. But Vedanta to all the peoples and all the faiths and all the development of earth, extends its hand of steadiness and stretches out cool waters of healing.

And this is because, in building up the philosophy no doubt was shirked, and each circumstance in turn became the starting-point of the realisation. The Hindu has no difficulty in understanding how "worshippers of the Devas go to the Devas. My own come to Me." He has no difficulty in understanding this distinction, even when "My Own worship Me" as Shiva or as Krishna, or as the Mother. "My Own come to Me".

Aye, accordingly, Hinduism is fit to pass through the ordeals of the Modern Transition.

- Sister Nivedita

Ego Problem and the Virtue of Selflessness

- Om Prakash Sharma

Scriptures and holy men never tire of driving home the point that ego is a great impediment in the path of one's spiritual development-in self-realisation. They simultaneously emphasise (for both go hand-in-hand), the 'great virtue of selflessness', or 'thinking of others.' Not just thinking, according to Swami Vivekananda, 'like a fully realised soul, living for others'.

He wrote in a letter from America to the Maharaja of Mysore, "This life is short, the vanities of the world are transient, **but they alone live who live for others, the rest are more dead than alive.**"

He further denounces the cardinal sin of selfishness, or living just for, and thinking only of, oneself without paying heed to others. He amplifies, "Selfishness is the chief sin, thinking of ourselves first. He who thinks 'I will eat first, I will have more money than others, and I will possess everything': he who thinks 'I will get to heaven before others, I will get Mukti before others', is the selfish man. The unselfish man says, 'I will be last, I do not care to go to heaven, I will go to hell, if by doing so I can help, if by doing so I can help my brothers.' This unselfishness is the test of religion".

Furthermore, the Patriot-Prophet points out that the inordinate attachment to oneself and one's family-the 'I and mine' syndrome-is at the root of 'the whole misery.' This, in turn, springs from utter ignorance of one's 'real nature'-swaroop jnana-which results from mistaking one's body-mind-complex' for one's 'real self', or soul.

Caricaturing an extreme case of 'I-and-mine', a humorist notes that such a character is given to praying to the Almighty thus:

*"O Lord, save me and my wife,
My son and his wife,
Us four,
And no more."*

On the other hand, as the Hitopadesha has it, an enlightened individual regards the whole world as his family-vasudhaiva kutumbakam. "Nobody is a stranger or outsider, my child," Mother Saradadevi, the divine consort of Sri Ramakrishna, too, advised her female disciples and added for good measure, "Learn to make the whole world your own."

In this context, one may also recall the same observation of a Vedantist who said, "Lose your little self in order to gain the greater one; in order to become a self-realised soul. Seeing the self in one and all, such a person never hates or hurts anybody for he knows that in doing so he will only be hating and hurting himself." Indeed, he becomes, as the Bhagavad-Gita says, "a wellwisher and promoter of the good of all-sarvabhutaihiteratah".

Dilating upon the theme of spiritual realisation, again in the same holy book, Sri Krishna tells Arjuna that he considers that person to be 'a supreme yogi' who "participates in the joys and sorrows of others as though they were his own-in a spirit of atonement with them."

In the inspiring life of Sri Ramakrishna Paramahansa, the august Guru of Swami Vivekananda, we find a practical demonstration of the aforesaid lofty Advaitic state.

One day, Paramhamsadeva saw a boatman on the river Ganges, who was at some distance from him, being mercilessly thrashed by another. The former was crying out in pain and agony, which made Sri Ramakrishna too very miserable.

So great was his empathy for the victim that he began to wreathe in pain, as though he himself was being beaten ! Not only this, he bore the marks of the thrashing that the other had received on his own person!

(Continued on Page 83)

Book Review

Why Bureacracy Fails ?

- Kalyan Ray

Shri Kalyan Ray IAS (Retd.) has long been associated with BVP and has held various offices in the organisation. He is not only a bureaucrat but a great scholar and writer also. His latest book "Why Bureacracy Fails" touches some untouched aspects of bureacracy and sheds light on the shortcomings which have surfaced after economic liberalisation.

Here is a brief review of the book - Editor

This book explores some of the little known areas of the bureacracy. It analyses the functioning of bureacracy in a historical perspective and its symbiotic relation with the society at large. The system of governance we inherited was suited to a colonial system, with rulers and subjects. However, transplanted on a democratic system, this immediately created a problem of incompatibility. It is easier to rule than administer. This has not helped in developing a healthy political system or an efficient administrative structure.

Bureacracy is also a successor to the courtier system. With dominant feudal elements in the society, the gap between both has narrowed. Spoils system has also made its inroads in the system, where personal preferences give way to objectivity. This has also eroded the credibility of the system and compromised the neutrality of the civil services. While, there has been no dearth of individual bureaucrats with talent, a viable system of neutral and efficient bureacracy in a democratic polity has failed to evolve.

Globalisation and economic reforms have created a close nexus between government and private business. This has created a situation of huge corruption. Present reported scam are only the tips of huge icebergs of corruption. Government system, which was designed to prevent any wasteful expenditure, has been allowed to

deteriorate to a personalized system. Dismantling of the system of check and balances over the years has degenerated public administration to private administration. Any organization can function effectively, if there is an internal system of checks, without which, it degenerates into a personal fiefdom. It is necessary to put in place proper checks in the government system, instead of over policing it.

The book explores the evolving relation between the political system and the administrative machinery. In the tussle between the political executive and the bureaucracy, the bureaucratic element seems to be gaining ground. This is evident from the proliferation of various quasi-judicial bodies, which are bureaucratic in nature and have usurped many of the powers of the Parliament. There is a distinct trend of bureaucratizing the system, rather than democratising it. There has been also development of a parallel bureaucracy. All these have curtailed the power of democratic institutions, which are vital to the functioning of a democratic polity, as envisaged in the Constitution.

q

(From Page 81)

As far as the problem of ego is concerned, the Sage of Dakshineswar, as Sri Ramakrishna is called, was of the opinion that it is next to impossible to get rid of it altogether. So it is best to place the 'rascal' at the service of the Lord.

This way one's unmitigated ego will get sublimated, or detoxified, which is precisely what Hanuman did in the case of his master, Sri Rama. He said to himself, 'I am the servant of Rama; nothing is impossible for me...I can do anything', and he actually did wonderful things, as we all know.

But that feat required utmost purity of heart, which is an essential prerequisite to build up that confidence in yourself.

The Meeting of Faith and Intellect

Ramakrishna was the representative of the totality of Hinduism. The Puranic aspects of Hinduism had been roundly criticized by Christians and rationalists. When Rammohan Roy and Dayananda stood up to speak for Hinduism, even they could not muster courage to speak in favour of Puranic Hinduism, for no argument acceptable to the rationalists could be adduced in its favour...Hinduism manifested its living form in the person of Ramakrishna and said to its critics, 'See with your eyes that which you cannot understand with your reason.' So Ramakrishna was the representative of those forms of Hinduism towards which Christian preachers were antagonistic, and which rational Hindus could not understand.

But Narendranath was the very image of reason. He personified European thought, and all the factors that led even English-educated Hindus to criticize Hinduism were present in him. When Vivekananda sought refuge in Ramakrishna, it was, in reality, modern India seeking refuge with ancient India, or Europe coming face to face with India. Ramakrishna's meeting with Vivekananda was the meeting of faith and intellect, of esoterism and rationalism. Of these two images, one was wrapped in Puranic truths, took even the external forms of religion to be valid and wanted to keep them intact, and was keen on proving all the spiritual practices of ancient India to be true; the other was eager to cut through the dialectics and external bonds of religion. Ramakrishna did not take anything from Narendranath; but yes, he made a Vivekananda out of Narendranath by pouring into him his spiritual power and transcendent vision. May be, the East and the West have met in the meeting of Ramakrishna and Vivekananda, and in all probability true global welfare will come to pass the day when the Western world comes to imbibe the spiritual wealth of the East-and on that day will be realized the goals of all peace-seekers.

- Ramdhari Singh 'Dinkar'

Respect your Age and Live Life with Zest

As we grow old our health and longevity depends upon our ability to adapt to aging. This ability should be put to optimal use to enhance health and longevity.

- R. Swaminaathan

Chronological age is only one measure of the aging process, and by no means an accurate one, since people vary widely in how the second measure, called biological age, which measures the actual rate of aging in a person's cell behave. Chronological age matches biological age only when we are young. But after middle age no two people have aged the same. The difference becomes more pronounced as people advance in age.

As we grow old our health and longevity depends upon our ability to adapt to aging. This ability should be put to optimal use to enhance health and longevity.

Some of the changes which occur in the body systems with age are :

(a) Regulation of body chemistry: At younger ages chemical processes constantly regulate the blood chemistry within limits almost on a moment to moment basis. With age the speed of this regulation slows down because all physiological, respiratory, digestive and excretory processes have declined. Moderation becomes necessary in all daily activities.

(b) Brain: Consequent to these changes in the chemical milieu at the cellular level, changes occur in various body systems. Alterations of metabolism in the brain cause changes in sleep rhythm.

(c) Endocrine glands: Changes occur in the endocrine glands which secrete various hormones like insulin.

(d) Immune System: Our body guards against infections slowly and gradually withers away.

(e) Bones: Bones get depleted of calcium and protein matter and become more fragile (osteoporosis)

These are some of the natural processes of aging which occur in every one of us. The body's ability to adapt to aging is truly remarkable provided we take care to live a healthy life style.

There are certain ways which can help nature to give a promised life span of nine decades with good health and happiness.

One of the best ways to retard or even to some extent reverse the aging process is to practice transcendental meditation. Dr. R. Keith Wallace, a professional physiologist studied eighty four meditators whose average age was fifty three. He divided the group into two sub-groups, one group consisted of persons who had meditated for at least five years, others for fewer than five years.

Wallace found that meditation made his subjects biologically younger than their years, and by a considerable amount: the short term meditators were five years younger than their chronological age and long term meditators a full twelve years younger.

Further research was conducted on the above subject all over the world and interestingly big differences showed up in the older subjects. This quite impressive finding was independent of the subject diet, exercise, alcohol consumption, and body weight.

Apart from this, healthy habits based on common sense principles and the will to live long and healthy life along with readiness to act if and when problems arise is all that is necessary to be able to lead a healthy and happy life during the advancing years.

Marry centuries ago King Solomon wrote these famous words:

"A merry heart doeth good like a medicine."

More than 100 years ago someone wrote this interesting little poem that illustrates to tell the importance of having the right attitude in life:-

Give me a good digestion, Lord,
And also something to digest!
Give me a healthy body, Lord,
With sense to keep it at its best.

q

Be the Change You Want to See!

-A Speech By Dr. A.P.J. Abdul Kalam (Former President of India and a Renowned Scientist)

Most of us in the IT field do one thing before leaving for the day from office, Press Ctrl+Alt+Del and leave happily.

One normal PC in sleep mode (Hibernation) will consume 35 watts/hour. Based on this let's do a small calculation.

For one week, $24 \times 7 = 168$ hours. Of this if we consider that we are working for 68 hours, then the PC is in Sleep Mode for 100 hours a week.

For one month, $4 \times 100 = 400$ hours. In a normal IT office, if we assume approximately 250 PCs are there, $250 \times 400 = 1,00,000$ hours (Sleep Mode). So, the power wasted in an office in a month is $1,00,000 \times 35 = 3500$ KWH or units. If the charge per unit is Indian Rs. 6, then totally the wastage value is approximately Indian Rs. 21,000.

Here the sad thing is not the money loss to the company but the power loss to the country. (Hope no company is bothered about this procedure of keeping the system in sleep mode.)

Apart from the loss to the country, we need to think of the efforts people are putting for producing the power in the Mines, Thermal Stations, Hydro Electric Stations, etc. If this is to continue, the cost of unit power will go up and, at one stage, we will not get power even if we are ready to pay any cost.

So, before leaving office, take some time to shut down the PC and do some favour to the country and the organisation.

If you feel that this point is to be considered, forward this to all the friends.

□

Whither Development of Youth

- K. N. Aggarwal

Lately numerous aberrations and deviations are noticeable in the general, conduct and behaviour of our society at large. To drive home the point we would go into the matters by first discussing issues related to school going children which is the first phase of human life.

Not longback pupils used to non-chalantly attend their school/pathshalas in far-off villages and parents were not even remotely concerned about their well being. Conversely in to-day's society, it is a bounden duty of every parent to ensure safe to-and fro journey of their kids between school and home. They would wait for hours together by the road side to ensure their wards embark on the right bus to reach their designated schools.

Now let us brood over the fact why this pollution in the social fabric has set in. Of course, Dehumanisation ! Some criminal minded people have stooped to indulging in child trafficking activities which include exporting children for camel-race in Arab-countries; child labour, child prostitution and even killing children for organ business.

Second let us take up the matter of adulteration in milk products largely used for rearing children. In good old days it was almost considered a sin to interfere with the natural properties of milk which has been pronounced as one of the constituents of the '**Panchamrita**' as per our Vedic scriptures. But to-day even branded companies are indulging in the practice of adulteration in milk which can play havoc with children's tender nervous system. The fact of the matter is that we have almost lost this wonderful gift of nature to the viles of some unscrupulous persons.

Thirdly, we will take up alarming deterioration in our teaching communities. The majority of our earstwhile teachers have matamorphosed themselves into money-minting machines. They are more interested into running their coaching institutions than attending to their assigned duties of teaching their pupils. The personal relationship between the

teacher and the taught has vanished and consequently acts of indiscipline among the students have become a routine occurrence. Ideally, a teacher should generate that energy in oneself and handle it in one's work of educating the pupils who appeal to him. A teacher has not only to instruct but also to inspire the students. He is supposed to influence the life and character of his pupils and equip them with ideas and values which will prepare them to enter the stream of national life as worthy citizens.

Another baffling problem our society is beset with is the increasing influence of Western culture on our youth. They are allowing themselves to become prey to the cult of rave Hashish/Parties, night club and discotheques which is far removed from our culture. They are increasingly becoming amenable to live-in relations and do not even hesitate in knocking at the doors of the judiciary to assert their right to same sex marriages. It will not be out of place here to mention that some of our sisters/daughters are not used to dressing themselves in a dignified manner. Another disturbing feature pervading our society is the splitting up of cohesion in our family life.

The newly weds are increasingly growing intolerant of their parents. A majority of couples consider the old parents only fit to do odd jobs, i.e. picking up children back from school; buying household provisions, getting sundry repair works fixed etc. etc. More often they do not consider their parents fit to sit with their friends and sometimes are not ashamed to consign the old parents even to the interiors of the house.

Last but not the least, a dangerous sense of purposelessness is gripping our new generation. They are liable to jump on extreme decisions of taking their own life on trivial issues; e.g. on getting lower rank in examinations, on delayed promotions and sometimes not getting life partner of their liking.

In the end we do hope and pray to the Almighty that good sense prevails on our strayed youth so as to create a salubrious environment conducive to the growth of the embattled society.

□

Patriotism in Savarkar's Life and Literature

- Dr. Harindra Srivastava

(Continued from the last Issue)

THE FAREWELL

A few months before he wrote the great sea-poem, Savarkar had a premonition of some impending doom. So he wrote 'The Farewell' a poem which shows his readiness to face any calamity. The poet says whether his 'humble ashes lie in the Andaman's sad brook' or 'stored by Ganga's sacred crystal stream'. I am quoting it in full for you to show how the poem is a remarkable synthesis of great poetry and his patriotism.

THE FAREWELL

Whose heart to heart by silken ties is knit,
Of friendship sweet, that sweeter grows by far,
Partaking of Godly Sacrament of Mother's creed divine:
Oh friends ! Farewell ! as tender and fresh,
As the morning dew that wakes the fragrance,
Friends adieu ! adieu !!

On 27 June, 1911 Savarkar was lodged in the steamer 'S.S. Maharaja' and left. With glistening tears, Savarkar bade adieu to his beloved motherland, and longingly looked toward the fast-receding native shores. Transcending the physical "I", he started soaring into the realm of the metaphysical. Peeping through a small ventilator, he looked at the vast expanse of the sea whose mighty empire seemed to stretch from end to end. Looking at the sea, he would go into a divine trance as deep and fathomless as the ocean itself.

Savarkar always thought that it would be "the mythical millennium" when his dream of India's freedom would come alive. And that day was bound to come, though he did not care whether he would live

to see it. Slavery after freedom and freedom after slavery has been a queer characteristic of world history. There is no king who has not had a slave among his ancestors, nor any slave who has not had a king among his. He describes the voyage in his *Majhi Jammathep* (My Transportation for Life).

"A steamer called 'Maharaja' was anchored in the port to take us to the Andamans. Yes, climbing into that steamer to be transported for life was like putting a live man in his own coffin. When a man is put upon the bier, his relatives conclude that he had left the world for ever, and, overcome with bereavement, watch the corpse with vacant eyes. Even so, the spectators watched us and felt that we were dead to the motherland we were leaving behind. Reality, I was being put on my funeral bier. They were looking at me as they would have seen any corpse passing along the road. If but a single one out of these my compatriots was to tell me, 'Go, my brother, go, I and others like me swear that we shall make India free and fulfil your vow', I would have left my funeral bier as soft as a bed strewn with flowers."

A glorious day Savarkar always believed will dawn on the kingdom of man. And the sun will look down upon the earth from his place high in the heavens as now, but with a heart full of rejoicing for the millennium that had arrived. Freedom will reign supreme then. On that day alone shall have fructified the endeavours, the sacrifices, the supreme struggles, and the high and unquenched hopes, of all the martyrs of the Earth. Happy the man who saw this promised land in the distance; happier he, who strove to bring it nearer; and happiest he, who has the fortune to enter it. Would that I be one of that shining company. At least, some share of it will surely fall to me. What a glorious future that will be !

In Andamans, Savarkar's muse further sharpened. That he composed 6,000 lines of verse including four classics (all predominantly patriotic) is not as important as the adverse circumstances in which he wrote them. In fact, 'wrote' is not a correct expression because he never had any facility to write except one letter every year. His compositions emerged from a process which is unparalleled in the annals of world literature. He would first conceive the contents in his mind, scribble them stealthily on the four walls of his cell with his nails, pins or pebbles or anything that he could manage (but never a pen), commit them to his

memory and then erase it. For all the years he was in prison he went on writing, remembering and rubbing off in the same way committing hundreds of pages to his encyclopedic memory. What once Tilak said of himself proved equally true of Savarkar: "You can forfeit my papers and property but you can never forfeit my mind and memory". He let his memory unburden the contents in the shape of books only after his repatriation to Ratnagiri in 1924. Some quotable quotes from the letters he wrote are :

"Those who work outside work much: but those who work in the prison work more. Unless the best amongst us suffer, the rest cannot work."

"The finest ideal for a young man is not to acquire but to sacrifice for the motherland; not to forget that the garden that sheds all its flowers for the garland of the gods is in bloom."

"A revolution is evolution in heaps. We are revolutionaries under necessity and not by choice."

"Every province wants to be separated shouts and invokes long life to itself. But how can the provinces live unless the nation lives. They all-Maharashtra, Bengal and Madras are great and will indeed live long but only through her-India. So let us not say-'Andhra Mata Ki Jai but Bharat Mata Ki Jai' of whom Andhra is only a limb. Let us not sing 'Bang Amar' but 'Hind Amar'."

The finest specimen of Savarkar's patriotism is a pamphlet called 'O Martyrs'. Written in England in 1980 to celebrate the golden jubilee of the first war of Indian Independence, it was circulated in thousands and hailed by the World press including 'London Times'! Robert Lynd, its subeditor and also an admirer of Savarkar, flashed a part of it in a box on the very first page. When questioned by his superiors, he said, "I only wanted to test the sulphur percentage in the contents and I wonder why with such fiery words the paper did not reduce to ashes".

"Tear it off", said his senior "and throw it into Thames".

"Sorry", quipped Robert "I'm afraid it might put the Thames on flames".

This passage is being quoted -

"This day, therefore, we dedicate, O' Martyrs, to your inspiring

memory. It was on this day that you raised a new flag to be upheld, you uttered a mission to be fulfilled, you saw a vision to be realized, you proclaimed a nation to be born.

We take up your cry, we revere your flag, we are determined to continue that fiery mission of "away with the foreigner", which you uttered amidst the prophetic thunderings of the revolutionary war. Revolutionary, yes, it was a revolutionary war, for the war of 1857 shall not cease till the revolution arrives, striking salvery into dust, elevating liberty to the throne. Whenever a people rises for its freedom, Whenever that seed of liberty gets germinated in the blood of its father, and whenever there remains at least one true son to avenge that blood of his father, there never can be an end of such a war as this. No, revolutionary war knows no truce, save liberty or death. We, inspired by your memory, determine to continue the struggle you began in 1857; we refuse to acknowledge the armistice as a truce; we look upon the battles you fought as the battles of the first campaign the defeat of which cannot be the defeat of the war. What ? Shall the world say that India has accepted the defeat as the final one? That the blood of 1857 was shed in vain? That the sons of India betray their fathers vows ? No, by Hindustan, No. The historical continuity of the Indian nation is not cut off. The War begun on the 10th of May 1857 is not over on the 10th of May.

'A piece of epic patriotism' David Garnett commented; and even Winston Churchill agreed that some lines reminded him of 'the immortal heroes of Plutarch.'

(Concluded)

q

Self-Improvement

At times when we are able to do good to others, why do we feel proud? The opportunity to serve others should be treated as an opportunity for self-improvement. This is a reason to feel lucky for being able to help someone in need. Instead of pride, what we ought to feel is gratitude for the opportunity to improve ourselves and thus progress further on the path of spiritual attainment.

इस अंक में.....

अपनी बात		1
Editor's Reflections		3
Holy Wisdom		5
Some Thoughts of Dr. Suraj Prakash Ji	S.K. Wadhwa	6
Is Vedanta The Future Religion?		9
Some Great Men's Thoughts About Swami Vivekanand		15
The Three Steps of Patriotism	Swami Vivekanand	17
भारत के महान परिव्राजक सन्यासी - स्वामी विवेकानन्द	विजय कुमार शर्मा	18
समष्टि ही आराध्य है	दीनदयाल उपाध्याय	22
कार्टूनिस्ट विदूषक नहीं होता	आर. के. लक्ष्मण	25
कर्म और लक्ष्य अर्थात् गेंद और गोल	प्रमथ्यु यायावर	27
कैसे पहचानें सौभाग्य के पल?	संकलित	32
सुरक्षा के उपाय	गंगा शरण शर्मा	35
औषधि विज्ञान के जनक- वैद्यराज चरक	डा. एम. पी. गुप्ता	37
अंतर्राष्ट्रीय भाषा के रूप में उभरती हिन्दी (हिन्दी दिवस-१४ सितम्बर)	महेशचन्द्र शर्मा	39
उपलब्धि बनाम सफलता	नवल किशोर शर्मा	41
कर्म में कुशलता ही योग है	डॉ. प्रदीप कुमार	44
सवाल है बच्चों की सही तालीम का	फ्रिट्ज काप्रा	46

असफलताएं जीवन को और सुंदर बनाती हैं	संकलित	49
इतिहास का पन्ना	लक्ष्मी नारायण अग्रवाल	51
मेरा जीवन-दर्शन	अल्बर्ट आइंस्टाइन	53
माता कुमाता न भवति	कमल मालवीय	56
राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का साहित्यिक प्रदेय	डॉ. सत्यकाम पहारिया	58
उभरते भारत के विकास की गारंटी-युवा शक्ति	सुरेश चन्द्र खत्री	60
संचार माध्यमों पर एकाधिकार के खतरे	राजेन्द्र कुमार	63
Ma Sharda	V.K. Sharma	67
Preserving Religious Diversity	Atal Behari Vajpayee	69
Role & Responsibility of Teachers in Building up Modern India	Swami Ranganathananda	73
Working With Difficult People	Clauddia Cornwall	75
Ego Problem and the Virtue of Selflessness	Om Prakash Sharma	80
Why Bureacracy Fails ?	Kalyan Ray	82
The Meeting of Faith and Intellect	Ramdhari Singh Dinkar	84
Respect your Age and Live Life with Zest	R. Swaminaathan	85
Be the Change you Want to See!	A.P.J. Abdul Kalam	87
Whither Development of Youth	K.N. Agarwal	88
Patriotism in Savarkar's Life and Literature	Dr. Harindra Srivastava	90

Whither Development

- K. N. Aggarwal

Of late numerous aberrations and deviation are noticeable in the general conduct and behaviour the society. It large to drine home the point we would go into the matters by first discussing issues related to school going children which is the first phase human life.

Not longest pupils used to non chalautly attend their school path sales in has off village and pvents were not ever remotly comes about their well being conversely into day society, it is a bound a duty of every parent to ensure safe to and so jausney of under kide between school and home. They would wait for hourse together by the road side to ensure their wolds embart on the right bus to reach their designated schools.

Let us broodover the fact why this pollution in the social falric has set in? Dehumanisation I some creatures of God (They cannot be called human beings) have made children their means of earning money by resorting to several in human practical which need not be delailed.

Second let us take the matter of adulteration in eatahlos we almost daily. read newseforts of maner facturing chemical milk, paneer, Ghee watch was considered a sin in good old days milt being meant for growing children skit persson and for toning up of health of infism and firm alitey one would imagine to intes fere with its propesties for feas of God. The fact of the matter is that we have almost lost this wonderful gift of nature to the viles of some unserupulous persons.

Thirdly, we would take up alarming detesretrate on our teacting and treaing comnities i.e. teachers and doctors of majority of our respected aurus and healers of your have fallen prey students and patients by taking recourse to members we thical practies. What an abhorrent days would help poor and deserving pupils by providing them books and sometimes ever financially similarly a good many doctors would help indigent patients with free medical advice and Uedicines and drugs and deassionally even financially, what a disgusting fall.

Last but not the least, a dangerous sense of deprivasion is gripping our had generated very swifty they can com on trivial issue e.g. on getting lower rank in examinations on dilayed romotions in their career and sometimes not getting life partner of their liking also they are generally in a state of confusion on the type of relations they should maintain with their prevents who are institutional incltural well seing of their pragency.

In The end, we do hope and pray to the almighty God that good sense prevails on our people and enlighenment desecuts on these suayad souls so as to create a saluorious environment conducive to the growth of the embattled society.

जरिए उनका बाह्य जागृत होता है, जबकि शिक्षा के अभाव में हमारा ब्रह्म धीरे-धीरे निद्रा में निमग्न होता जाता है। ज्ञान के प्रकाश के अभाव में, शिक्षा के प्रसार के बिना देश की प्रगति कैसे हो सकती है?...इस बात को निश्चित रूप से समझ लीजिए कि जब तक शिक्षा का प्रसार नहीं होगा हालत में सुधार नहीं हो सकता। पहले महिलाओं में और फिर आम जनता को शिक्षित कीजिए...इतिहास और पुराण, गृहस्थी का संचालन कला, गृहस्थ जीवन के कर्तव्य और आदर्श के सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान की सहायता से सिखाए जाने होंगे। महिलाओं-छात्रों को नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन की शिक्षा का प्रशिक्षण देना होगा... केवल शिक्षित और धर्मनिष्ठ मांओं के घर में महान व्यक्ति जन्म लेते हैं।



कमजोर बनाने वाली शिक्षा नहीं

- स्वामी विवेकानंद

मुझे द्वैतवाद के विभिन्न रूपों से कोई आपत्ति नहीं है। मैं उनमें से अधिकांश को पसन्द करता हूँ। लेकिन मुझे शिक्षण का कोई भी ऐसा तरीका स्वीकार्य नहीं है जो शिक्षा प्राप्त करने वाले को कमजोर बनाता है। मैं हर आदमी, महिला और बच्चे से, जब वे भौतिक, मानसिक अथवा आध्यात्मिक प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे होते हैं, यह सवाल पूछता हूँ। क्या आप मजबूत हो? क्या आपको अपनी शक्ति का आभास होता है? क्योंकि मैं जानता हूँ केवल सच्चाई बल प्रदान करती है। मैं यह भी जानता हूँ कि केवल सच्चाई जीवन प्रदान करती है, और केवल वास्तविकता की ओर बढ़कर हम मजबूत हो सकते हैं। और तब तक कोई सत्य तक नहीं पहुंच सकता जब तक कि वह मजबूत न हो। इसलिए प्रत्येक व्यवस्था जो हमारे दिमाग को कमजोर करती है, हमें अंधविश्वासी बनाती है, हमें हतोत्साहित अथवा उदास करती है, असंभव इच्छाओं, रहस्यों और अंधविश्वास को जन्म देती है, मैं पसंद नहीं करता हूँ क्योंकि इनका प्रभाव खतरनाक होता है। इस तरह की व्यवस्थाएं कोई भला नहीं करती; इस तरह की बातें दिमाग में रुग्णता पैदा करती हैं, उसे कमजोर बनाती हैं, इतना कमजोर बना देती हैं कि कुछ समय पश्चात सत्य को ग्रहण करना और उसके सहारे रहना असंभव हो जाता है।

आत्म निर्भरता : अगर लोगों को अपनी मदद स्वयं करना नहीं सिखाया जाएगा तो दुनिया की समस्त दौलत भी भारत के एक छोटे गांव की सहायता नहीं कर सकती। हमारा मुख्य कार्य नैतिक और बौद्धिक शिक्षा प्रदान करना होना चाहिए...लोगों को शिक्षित कीजिए, ताकि वे आत्मनिर्भर, मितव्ययी होना सीखें।

वर्तमान व्यवस्था की कमियां :-वर्तमान विश्वविद्यालय व्यवस्था पूरी तरह दोषों से भरी है। क्यों? यह क्लर्कों की फौज तैयार करने के अलावा और कुछ नहीं करती। अगर केवल ऐसा होता तो विशेष चिन्ता, दुख का विषय नहीं था। लेकिन नहीं। देखिए इसमें पढ़कर लोग श्रद्धा और विश्वास को खो रहे हैं। वे दावा करते हैं कि गीता केवल एक क्षेपक है और वेद देहाती गीत हैं। वे भारत के बाहर की प्रत्येक वस्तु और राष्ट्र के बारे में विस्तार से जानना चाहते हैं और उन विषयों में विशेषज्ञ होना चाहते हैं। लेकिन अगर आप उनसे पूछें तो उन्हें सात पीढ़ी तक अपने पूर्वजों के नाम भी नहीं मालूम, चौदह की बात तो जाने ही दीजिए।....अगर किसी देश का अपना इतिहास नहीं है तो विश्व में उसका कुछ भी नहीं है। अगर कोई व्यक्ति विश्वास और गर्व

के साथ कहता है मैं अभिजात वंशज हूँ तो क्या आप विश्वास करेंगे कि वह गलत कह रहा होगा। ऐसा कैसे संभव है? उसका स्वयं पर विश्वास उसकी कार्यवाहियों और भावनाओं पर नियंत्रण करेगा कोई गलत काम करने से पहले वह मर जाना पसन्द करेगा। अतः राष्ट्र का इतिहास किसी देश को उचित सीमा में रखता है और उसे पतन के मार्ग में आगे जाने से रोकता है। हमें वाइसराय का कृतज्ञ होना चाहिए कि उन्होंने विश्वविद्यालय व्यवस्था में सुधार लाने का प्रस्ताव किया है....। ग्रेजुएट होने के लिए इतना हल्ला-गुल्ला क्यों? कुछ ही दिनों बाद सभी कुछ शान्त हो जाएगा। और ग्रेजुएशन के बाद वे क्या सीखते हैं। हमारा धर्म और रीति-रिवाज बुरे हैं और पश्चिमी देशों का धर्म और रीति रिवाज अच्छे हैं। अन्ततः भूख और गरीबी बड़ी समस्या है। यह शिक्षा रहती है या समाप्त कर दी जाती है, इससे क्या फर्क पड़ता है। बेहतर यह होगा कि लोग कुछ तकनीकी शिक्षा प्राप्त करें ताकि शाम सवेरे नौकरी की मांग करने और रट लगाने के अलावा उन्हें कोई काम मिल सकें और वे अपनी गुजर बसर कर सकें।

इस समय आप जो शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं उसमें कुछ अच्छी बातें हैं लेकिन इसमें अत्यंत बुरी बातें भी हैं और वे इतनी अधिक हैं कि उनके बोझ के नीचे अच्छी बातें दब जाती हैं।

पहली बात यह है कि यह मनुष्य को बनाने वाली शिक्षा नहीं है। यह केवल पूरी तौर पर नकारात्मक शिक्षा है। नकारात्मक शिक्षा अथवा कोई प्रशिक्षण जो नकारात्मकता पर आधारित हो, मौत से भी बुरा है। बच्चे को स्कूल ले जाया जाता है और पहली बात वह जो सीखता है वह यह है कि उसके पिता मूर्ख हैं। दूसरी बात, जो वह सीखता है, वह यह है कि उसके दादा पागल थे, तीसरी बात, यह कि उसके अध्यापक पाखंडी हैं और चौथी बात यह कि सभी धार्मिक ग्रंथ निर्जीव और अस्थिहीन झूठ से भरे हैं। सोलह वर्ष की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते वह नकार पुंज में बदल जाता है। और नतीजा यह हुआ है कि पचास वर्षों की ऐसी शिक्षा के बावजूद मुंबई मद्रास और कलकत्ता ने एक भी मूल विचारों वाला व्यक्ति पैदा नहीं किया है। मूल विचारों का हर व्यक्ति इस देश में नहीं अन्यत्र शिक्षित हुआ है।

शिक्षा लोगों की गरीबी समाप्त कर सकती है। यूरोप के अनेक नगरों की यात्रा करते हुए मैंने देखा कि वहां के गरीब भी शिक्षित हैं और सुख-आराम से रह रहे हैं। इससे मेरे दिमाग में अपने देश के गरीब लोगों की हालत का विचार आया और मेरी आंखों से आंसू निकलने लगे। अन्तर का क्या कारण था? मुझे उत्तर मिला शिक्षा। शिक्षा के जरिए लोगों में अपनी क्षमता पर विश्वास पैदा होता है, और विश्वास के

भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का द्वंद्व

- सरोज कुमार वर्मा

समाजशास्त्री सच्चिदानंद सिन्हा के इस कथन से अपनी बात शुरू करना प्रार्थनिक प्रतीत होता है। “इस विकास प्रक्रिया के रहते प्रदूषण पर थोड़ी रोक भले ही लग जाए संसाधनों के विशाल क्षय को रोकना तो दूर, इसे कम भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि विशाल मात्रा में विभिन्न कच्चे मालों और विशाल मात्रा में ऊर्जा की खपत रोकने से ही यह संभव है।”

आदमी की दावेदारी दुनिया के सभी प्राणियों से बेहतर होने की है। अब वह है या नहीं, इस बहस में पड़े बिना यह स्वीकार भी लिया जाए तो अचरज होता है कि ऐसा दावा करने के बावजूद, उसने जैसी दुनिया बनाई है वह बेहतर नहीं है। यदि होती हो इसमें अन्य प्राणियों के जान के लाले नहीं पड़े होते, वनस्पतियों की प्रजातियां लुप्त नहीं हुई होती, पानी का संकट नहीं आया होता, जंगल नष्ट नहीं हुए होते, समंदर उफन नहीं रहा होता और पर्वत पिघल नहीं रहा होता। अभी एक दशक भी नहीं बीता। उसने अपनी सुविधाओं के लिए अन्य प्राणियों समेत प्रकृति के तमाम उपादानों को ध्वस्त किया है, इस दलील के साथ कि विकास के लिये यह सब जरूरी है। बेशक उसने जिस भौतिक विकास को विकास का एकमात्र पैमाना मान लिया है उसी की वजह से आदमी सहित समूची धरती को विनाश के मुहाने पर ला खड़ा करने वाला पर्यावरण का यह सर्वसंहारक संकट आन खड़ा हुआ है।

‘पर्यावरण’ शब्द ‘परिसमंतात् आवरणं’ से निष्पन्न हुआ है, जिसके मुताबिक सभी ओर से सृष्टि को घेरने वाला पर्यावरण है। अब चूंकि पृथ्वी, पानी, हवा, आग, आकाश, ध्वनि और वनस्पति आदि सभी तरफ से घेरे हुए हैं, इसलिए ये ही पर्यावरण के मूल तत्व हैं। इन्हीं की वजह से और इन्हीं के बीच हम और अन्य सभी प्राणी जीवित रह पाते हैं। ये तत्व प्रकृति में हमेशा से एक संतुलन अवस्था में रहे हैं और मनुष्य अपने जीवनयापन के लिए उन्हें छोड़ता भी रहा है तो उसी हद तक जितने से उनका संतुलन बिगड़ने न पाए। लेकिन इन दिनों यह संतुलन बिगड़ने लगा है और वह इसलिए कि आदमी अपने विकास के नाम पर इन तत्वों को नष्ट करता जा रहा है और उसकी मात्रा इतनी अधिक होती है कि उससे उनका अनुपात बिगड़ गया है। इसी क्रम में कई प्रकार के हानिकारक गैस, जहरीला धुंआ, तेज आवाज, उर्वरक और कचरा आदि इतनी अधिक मात्रा में प्रकृति में छोड़े जाने लगे हैं, कि वह प्रदूषित हो गई हैं पर्यावरण-संकट इसी प्रदूषण का नतीजा है।

आवश्यक और अनावश्यक वस्तुओं का अंतर किए बगैर व्यक्ति अधिक से अधिक वस्तुओं का उपभोग कर लेना चाहता है। लेकिन इसमें मनुष्य का भी दोष नहीं है क्योंकि उपभोक्तावादी संस्कृति की यह विशेषता है कि वह विज्ञापन के द्वारा अनावश्यक वस्तुओं का प्रचार-प्रसार कर उन्हें व्यक्ति के लिए आवश्यक बना देता है। इसी कारण आदमी की थोड़ी-सी आवश्यकताएं भी इस हद तक विस्तार पा जाती हैं कि वह उन्हें पूरा करने के प्रयास में ही अनावश्यक वस्तुओं का जखीरा जमा करने लगता है। अब चूंकि इन सभी अनावश्यक वस्तुओं के उत्पादन में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और प्रकृति का प्रदूषण भी होता है, इसलिए भारत डोगरा कहते हैं कि “विलासिता की जीवनशैली अनिवार्य रूप से पर्यावरण के विनाश से जुड़ी है। करोड़ों गरीबों वाली दुनिया में यह विलासिता दूसरों के संसाधन छीनने से भी जुड़ी है। जिस समाज में विलासिता की जीवनशैली का प्रसार होता है, उसे एक चमकदार उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत किया जाता है जिसके पीछे सब दौड़ते रहें, ऐसे समाज को सार्थक विकास के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। जिस समाज में नयी से नयी उपभोक्ता वस्तुओं को बहुत आक्रामक ढंग से किया जाता है, नित नयी-नयी उपभोक्ता वस्तुओं की कृत्रिम भूख को उकसाया जाता है, उस समाज में न तो लोगों को संतोष मिल सकता है, न ही वहां का पर्यावरण बच सकता है।”

मगर ये समस्याएं यूं ही नहीं खड़ी की जा रही हैं, बल्कि इनके पीछे एक सुनिश्चित दार्शनिक सिद्धांत है। यह सिद्धांत सुखवाद का है। बेंथम, मिले, एपिक्यूरस, एरिस्टीपस तथा सिजविक जैसे दार्शनिक इस सिद्धांत के समर्थक हैं। यों तो इन सभी विचारकों के सुखवादी सिद्धांतों में कुछ अंतर भी हैं, लेकिन इन अंतरों के बावजूद ये सभी विचारक सुख को जीवन का चरम लक्ष्य मानने के मामले में एकमत हैं। इसलिए ये सभी मानते हैं कि आदमी जिंदगीभर सुख की खोज में लगा रहता है और उसका ऐसा करना ही उचित है। तभी तो बेंथम यह कहते हैं कि “अपने लिए सुख का अधिकांश भाग प्राप्त करना प्रत्येक बौद्धिक प्राणी का लक्ष्य है।” बेंथम ऐसा यह मानकर कहते हैं कि आदमी स्वभाव से स्वार्थी होता है। यद्यपि ऐसा मानने के बावजूद वह अपने सुखवादी सिद्धांत में ‘अधिकतम संख्या में अधिकतम सुख’ का विचार देकर निजी सुख के बदले सामाजिक सुख की वकालत करते हैं और मानव-मात्र के लिए अधिकतम सुख खोजने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर परार्थवाद की जुगाली भी करते हैं। लेकिन अपने अधिकतम सुख के साथ दूसरे का भी अधिकतम सुख संभव कैसे है, इसका कोई सूत्र वह नहीं बता पाते।

हालांकि मिल उससे उबरने के लिए सुखों में गुणात्मक भेद मान लेते हैं और बेंथम के विचार को संशोधित कर मानसिक सुख को शारीरिक सुख से श्रेष्ठतर घोषित करते हैं और इसका फर्क दिखाने के लिए 'सुख' के बदले 'आनंद' शब्द का इस्तेमाल भी करते हैं, मगर इतना कुछ करने के बाद भी वह सुख और आनंद में कोई भेद नहीं कर पाते जिसके कारण उनका आनंद भी सुख का पर्याय ही हो जाता है और अंततः वह भी बेंथम की तरह सुख को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य मानने वाले दार्शनिक सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार दूसरे सारे सुखवादी दार्शनिक भी कमोवेश हेर-फेर के साथ सुख को ही जीवन का परम लक्ष्य प्रतिपादित करते हैं। अब चूंकि यह सुख भौतिक वस्तुओं से प्राप्त होने वाला पूरी तरह शारीरिक और इंद्रिय है और भौतिक वस्तुएं प्राकृतिक संसाधनों के विनाश और दोहन से उत्पादित होती हैं, इसलिए यह तार्किक परिणति के रूप में स्थापित होता है कि सुखवाद पर्यावरण संकट का दार्शनिक आधार है।

यदि भारतीय दर्शन में यह आधार खोजें तो यह भौतिकवाद के रूप में मिलता है जिसके प्रणेता चार्वाक हैं, क्योंकि वही "खाओ, पीओ और मौज करो" का सिद्धांत देकर दैहिक सुख को इस हद तक महिमामंडित करते हैं कि उसके लिए कुछ भी किया जाना अवांछित नहीं होता। अब जाहिर-सी बात है कि जब दैहिक सुख ही जीवन का अभीष्ट है और वह सुख भौतिक सामग्रियों से मिलता है तो किसी भी प्रकार से इन सामग्रियों को प्राप्त करना ही आदमी का एकमात्र लक्ष्य हो जाता है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उसे प्राकृतिक संसाधनों का क्षरण और दोहन करने में भी कोई संकोच नहीं होता क्योंकि ऐसा करके ही उसे दैहिक सुख देने वाली भौतिक सामग्रियां मिल पाती हैं। इस प्रकार यह सुनिश्चित हो जाता है कि इस पर्यावरण संकट का एक सुविचारित दार्शनिक आधार है।

इसलिए इस संकट का समाधान भी व्यवस्थित विचारधारा से ही हो सकता है और यह विचारधारा भारतीय दर्शन के अध्यात्मवाद से मिलती है। अध्यात्मवाद एक आध्यात्मिक परमतत्व को मानने वाला दार्शनिक सिद्धांत है। इस परमतत्व को भारतीय दर्शन में 'ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है और उसी को मात्र सत्य मानते हुए पूरे संसार को मिथ्या माना गया है। लेकिन मिथ्या मानने का यह तात्पर्य नहीं है कि यह संसार झूठ है, जैसा कि व्याख्यायित किया जाता है और ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर इसकी सत्ता समाप्त हो जाती है। नहीं! इसका ऐसा कोई तात्पर्य नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि ब्रह्म का ज्ञान नहीं रहने पर संसार जैसा दिखाई पड़ता है ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर वैसा दिखाई नहीं पड़ता। दरअसल, ब्रह्म और संसार दो भिन्न-भिन्न सत्ताएं नहीं हैं, बल्कि वे एक ही हैं। इसीलिए अज्ञान के कारण जो संसार भौतिक दिखाई पड़ता है, ज्ञान

हो जाने पर वही आध्यात्मिक ब्रह्म देखने लगता है। गौड़पाद और शंकराचार्य जैसे दार्शनिकों से लेकर विवेकानंद और अरविंद जैसे दार्शनिकों तक ने इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए इसकी विस्तृत व्याख्या की है। स्वातंत्र्योत्तर युग के दार्शनिक ओशो (रजनीश) ने भी इसे बड़े सरल शब्दों में समझाते हुए कहा है—“परमात्मा के निकट जैसे-जैसे तुम जाओगे, वहां परमात्मा में संसार और मोक्ष एक ही घटना है। वहां बनाने वाला और बनाई गई चीजें दो नहीं हैं; वहां स्रष्टा और सृष्टि एक ही है। वहां तुम ऐसा न पाओगे कि यह वृक्ष अलग है परमात्मा से तुम इस वृक्ष में परमात्मा को ही हरा होते हुए पाओगे।

इसका परिणाम यह होता है कि आदमी न केवल आदमी से बल्कि आदमी के अतिरिक्त प्रकृति के अन्य सभी जीवों, वनस्पतियों और निर्जीव वस्तुओं से भी आत्मीय रिश्ता बनाना चाहता है, क्योंकि सब एक ही परम सत्ता की अनंत अभिव्यक्तियां होने के कारण तत्त्वतः एक ही हैं। फिर किसी दूसरे जीव एवं दूसरी वस्तुओं को नुकसान पहुंचाना वास्तव में अपने को ही नुकसान पहुंचाना है। इसलिए अपने दैहिक सुख के लिए, अपनी भौतिक सुविधाओं के लिए दूसरे प्राणियों का, वनस्पतियों का, नदियों-पहाड़ों का तथा जमीन-जंगलों का विनाश करना अंततः अपना ही विनाश करना है। यही बोध, इसी तथ्य का ज्ञान आदमी को प्राकृतिक संसाधनों के क्षरण और दोहन करने से रोक सकता है तथा प्रकृति को प्रदूषित करने से बचा सकता है।

इस अध्यात्मवाद की नींव पर ही वह संस्कृति विकसित हो सकती है जो उपभोक्तावादी न हो। विजय कुमार फ्रेड्रिक जेमसन के हवाले से आज की संस्कृति पर विचार करते हुए कहते हैं—“संस्कृति का अर्थ अब केवल आनंद और आमोद-प्रमोद है। वस्तुओं के उपभोग की जीवन-शैली ने हमारे समय में एक असामान्य किस्म के सुखवाद को फैलाया है। वस्तुओं की तरफ एक बदहवास दौड़ है। वस्तुओं के प्रति यह पूजा-भाव अब जीवन के सारे पहलुओं का प्रतिनिधित्व करने लगा है।” अध्यात्मवाद इस प्रतिनिधित्व को बदल सकता है। वह वस्तुओं के बदहवास उपभोग की जीवन-शैली के बदले वैसी जीवन-शैली अपनाने और विकसित करने में मदद कर सकता है जो जरूरी उपयोग पर आधारित होने के कारण संतुलित और प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण हो जिसमें सादगी का मूल्य हो और त्याग की महत्ता हो। ऐसी ही जीवन-शैली के निर्माण के लिए गांधीजी ने पाश्चात्य सभ्यता की आलोचना कर, क्योंकि वह केवल भौतिक सुख का हिमायती है, मन की वृत्तियों की हद बांधने की बात कही थी। उन्होंने कहा था “मनुष्य की वृत्तियां चंचल हैं। उसका मन बेकार की दौड़-धूप किया करता है। उसका शरीर जैसे-जैसे ज्यादा दिया जाए जैसे-वैसे ज्यादा मांगता है। ज्यादा लेकर भी वह सुखी नहीं होता। भोग भोगने से भी